उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

UGHY-104

भारतीय इतिहास
1556–1857 ई0 तक

खण्ड–1 : मुगलकालीन भारत में समाज एवं संस्कृति 3-156

इकाई 1 : मुगल कालीन साहित्य का विकास (फारसी हिन्दी आदि)

इकाई 2 : मुग़लकालीन उमरा वर्ग, संरचना एवं भूमिका

इकाई 3 : मुग़ल स्थापत्य कला

इकाई 4 : मुगल चित्रकला

इकाई 5 : मुग़लकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था

खण्ड–2 : भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना का प्रारम्भिक चरण 157-188

इकाई 1 : आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध : पृष्ठभूमि : कारण एवं परिणाम

इकाई 2 : प्लासी का युद्ध पृष्ठभूमि, कारण एवं परिणाम

इकाई 3 : पानीपत का तृतीय युद्ध, पृष्ठभूमि एवं महत्व

इकाई 4 : मैसूर : हैदरअली एवं टीपू सुल्तान

इकाई 5 : बंगाल का घटनाक्रम, ईस्ट इंडिया कम्पनी एवं बक्सर का युद्ध

खण्ड 3 : भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार 189-224

इकाई 1 : प्रथम आग्ंल–मराठा युद्ध (1757–1782 ई0 तक), द्वितीय आंग्ल–मैसूर युद्ध (1780–1784 ई0 तक), पृष्ठभूमि, घटनाक्रम एवं परिणाम

इकाई 2 : 1765 से 1798 ई0 की अवधि में मुगल एवं भारतीय राज्यों के प्रति ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति

इकाई 3 : रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773, पिट्स इण्डिया एक्ट 1784 एवं 1793 का चार्टर अधिनियम– पृष्ठभूमि, प्रावधान एवं महत्व

इकाई 4 : 1813 ई0, 1833 ई0 एवं 1853 ई0 का चार्टर एक्ट तथा अवध का विलय– पृष्ठभूमि एवं परिणाम

इकाई 5 : 1857 की क्रान्ति की दीर्घकालीन एवं तात्कालिक पृष्ठभूमि

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

UGHY-104

भारतीय इतिहास

1556–1857 ई0 तक

खण्ड – 1

मुगलकालीन भारत में समाज एवं संस्कृति

इकाई – 1

मुगल कालीन साहित्य का विकास (फारसी हिन्दी आदि)

इकाई – 2

मुग़लकालीन उमरा वर्ग, संरचना एवं भूमिका

इकाई – 3

मुग़ल स्थापत्य कला

इकाई – 4

मुगल चित्रकला

इकाई – 5

मुग़लकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश
प्रयागराज

परामर्श समिति **UGHY-104**

प्रो0 सीमा सिंह — **कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

प्रो0 पी0 पी0 दूबे — **कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार — आचार्य इतिहास एवं प्रभारी निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 संजय श्रीवास्तव — आचार्य, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, समाज विज्ञान विद्याशाखा विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

प्रो0 संतोषा कुमार (ब्लॉक–1) — आचार्य, इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ. नम्रता प्रसाद (ब्लॉक–2) — एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास सी.एम.पी.पी.जी. कॉलेज, प्रयागराज

डॉ. (कुमारी) पंकज शर्मा (ब्लॉक–3 एवं 6) — सहायक आचार्य, इतिहास नानकदेव संस्कृत पी.जी.कॉलेज,मेरठ

डॉ. संतोष कुमार चतुर्वेदी (ब्लॉक–4) — आचार्य, इतिहास महामति प्राणनाथ पी.जी.कॉलेज,मऊ, चित्रकूट

डॉ0 तनवोर हुसैन (ब्लॉक–5) — सहायक आचार्य, इतिहास, जी.एफ.पी.जी. कॉलेज,शाहजहाँपुर

सम्पादक

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी (ब्लॉक–1,3,4,5,6) — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो. अरुणा सिन्हा (ब्लॉक–2) — आचार्य, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-ShareAlike 4.0 International License.

ISBN : 978-93-94487-91-8

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित –२०२४

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज.

PEPE-069

इकाई-1

मुगलकालीन साहित्य का विकास

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 फारसी साहित्य

1.3 संस्कृत साहित्य

1.4 हिंदी साहित्य

1.5 उर्दू साहित्य

1.6 सारांश

1.7 बोध प्रश्न

1.8 शब्दावली

बोध प्रश्नों के उत्तर

1.9 इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि मुग़ल साहित्य का विकास किस प्रकार हुआ?

- मुग़ल साहित्य के अंतर्गत किन-किन भाषाओं में महत्वपूर्ण रचनाएं की गयीं?
- मुग़ल काल में विभिन्न भाषाओं के अंतर्गत रची गयी श्रेष्ठ रचनाएँ कौन-कौन सी हैं? और मुग़ल साहित्य की विशिष्टता क्या थी?

1.1 प्रस्तावना

साहित्य प्रायः हर काल की श्रेष्ठ प्रवृतियों को रेखांकित करने का सबसे सशक्त माध्यम होता है। इसमें एक खूबी और होती है जो अन्य विधा में संभव नहीं हो सकती। दर-असल यह वह माध्यम होता है जिसके जरिये आम आदमी के दुःख-दर्द को बयां करने के साथ-साथ अपने शासकों के गलत नीति एवं शोषक वृत्ति की भी कटु आलोचना की जा सकती है। आमतौर पर साहित्यकार उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें हम माध्यम या निम्न वर्ग के नाम से जानते हैं. यह साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने समय की दुष्प्रवृत्तियों, अंधविश्वासों और गलत चीजों पर भी सशक्त प्रहार करता है और इसीलिए वह जनता में हमेशा-हमेशा के लिए लोकप्रिय और अमर हो जाता है क्योंकि वह जनता की आवाज और जनता के मानस को अपने शब्दों के माध्यम से बिना किसी हिचक के चमत्कारिक रूप से व्यक्त कर देने का अपार साहस रखता है। इस बात से इनकार नहीं कि साहित्य में कल्पना का पर्याप्त समावेश होता है। परन्तु यह कल्पना भी आधारहीन नहीं होती बल्कि हमेशा यथार्थ के ठोस धरातल पर ही संभव हो पाती है। यही कल्पना जब हमारे देखे गए सपने से एकीकृत होती है तो असंभव को भी संभव बना देती है। और इस तरह एक नए युग की शुरुआत होती है।

साहित्यिक दृष्टिकोण से मुग़ल काल एक प्रगतिशील एवं समृद्ध काल माना जा सकता है। इस काल में विभिन्न भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य की रचना की गयी जो आगे चल कर कालजयी बन गयी और जो आज लगभग चार सौ वर्षों बाद भी जनता के बीच लोकप्रिय बना हुआ है। इसकी वजह यही है कि इस युग के रचनाकारों ने जिस युग-बोध का अनुभव किया वह वैसे अनुभवों पर आधारित था जिसे एक आम आदमी जिया करता है। आज जब हम उस युग की कृतियों को देखते हैं तो पाते हैं कि हमारा भी जीवन उसी तरह कंटकाकीर्ण है। हमारे संघर्ष आजीवन चलते रहने वाले संघर्ष हैं। और अपने जमाने के

अंधविश्वासों एवं कट्टर तत्वों से लोहा लेना हमेशा मुश्किल काम होता है जिसे एक साहित्यकार बखूबी कर लेता है।

मुग़ल काल का यह सौभाग्य था कि उसके पूर्ववर्ती काल में यहाँ भारत में दो समृद्ध परम्पराएं अलग-अलग आन्दोलन के रूप में संचरित हो रही थीं। सूफी और भक्ति आन्दोलन के रूप में ये धाराएं जनमानस के एक बड़े हिस्से को शिद्दत से प्रभावित कर रही थीं। इन आदोलनों के साथ वैसे लोग जुड़े हुए थे जो आमतौर पर समाज के दबे-कुचले वर्ग से आते हैं। ये लोग अपने वर्गीय कामों को स्वाभिमान के साथ करते हुए समाज को अपनी रचनाओं के माध्यम से एक नयी दिशा देने का काम कर रहे थे। भक्ति आन्दोलन किसी न किसी रूप में सत्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा और इस तरह मुग़ल काल में भी ये धाराएं न केवल चलती रहीं बल्कि इस समय के साहित्य को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती रहीं। इस काल में विभिन्न भाषाओं के साहित्य के विकास पर हम क्रमश: दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे।

मुग़ल काल साहित्य-संस्कृति के विकास की दृष्टि से एक आदर्श काल था। इस काल में वे सभी गुण विद्यमान थे जो आमतौर पर बेहतर साहित्य सृजन के लिए आवश्यक होता है। मुग़ल सम्राटों का उदार धार्मिक दृष्टिकोण, इस काल में अपेक्षाकृत शान्त वातावरण, अनेक बादशाहों का स्वयं साहित्यकार या साहित्यानुरागी होना, दरबार में विद्वानों को पर्याप्त संरक्षण एवं राज्य द्वारा उनको हर प्रकार से बढ़ावा दिया जाना आदि कारणों ने समवेत रूप से इस काल में साहित्य को बढ़ावा दिया।

1.2 मुग़ल काल में फ़ारसी साहित्य का विकास

मुग़ल काल की राजभाषा फ़ारसी थी। अतः स्वाभाविक रूप से इस काल में फ़ारसी साहित्य की अधिकाधिक प्रगति हुई। इसके अतिरिक्त भी कुछ वजहें थीं जिससे फ़ारसी भाषा के साहित्य को अधिकाधिक बढ़ावा मिला। इसमें पहला प्रमुख कारण फारसी के प्रमुख

विद्वानों का फारस से मुग़ल दरबार में आना एवं उनको उचित संरक्षण प्रदान किया जाना था। इसके साथ-साथ भारतीय मूल के फ़ारसी के विद्वानों द्वारा फारसी को भारतीय रूप प्रदान किया जाना भी इसके प्रगति के मूल कारक के रूप में दिखाई पड़ता है। इसी क्रम में मुग़ल कालीन फ़ारसी की दो शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं। पहली इरानी शैली - जिसका विकास फारस से आये प्रवासी विद्वानों एवं रचनाकारों द्वारा किया गया। दूसरी भारतीय शैली- जिसका विकास भारतीय विद्वानों द्वारा किया गया। भारतीय-फ़ारसी शैली का प्रवर्तक अबुल फज़ल था। भारतीय शैली परम्परागत ईरानी शैली से अलग दिखाई पड़ती है। भारतीय विद्वानों की संगत में अब इस शैली में फारसी का मूल रूप भी बदल गया और सही मायनों में कहें तो इसका पूरी तरह से भारतीयकरण हो गया।

मुग़ल वंश का संस्थापक शासक बाबर खुद तुर्की एवं फारसी भाषाओं का विद्वान् कवि एवं लेखक था। बाबर ने अपनी आत्म-कथा 'तुजुके-बाबरी' अथवा 'बाबरनामा' चगताई तुर्की भाषा में लिखी जिसे विश्व के श्रेष्ठतम साहित्य की सूची में शामिल किया जाता है। बाबर के बारे में यह कहा जाता है कि अगर बाबर ने किसी अन्य माध्यम से सफलता प्राप्त न की होती तो भी ये दुनिया उसे केवल उसकी आत्मकथा की बदौलत याद रखती। इस आत्मकथा की गणना 'युग युगीन साहित्य की सर्वाधिक आकर्षक एवं रोमांचपूर्ण कृतियों' में की जाती है। हुमायूँ और अकबर के काल में बाबर की इस आत्मकथा का तीन बार फारसी में अनुवाद किया गया। बाबर के सद्र-उस-सुदूर शेख जेतुद्दीन ख्वाजा ने बाबरनामा का फ़ारसी अनुवाद किया। अकबर के आदेश पर १५८९-९० में अब्दुर्रहीम खान-ए-खाना ने इसका फिर अनुवाद किया। अंग्रेजी में इसका सबसे प्रामाणिक अनुवाद श्रीमती ए. एस. बेवरेज का है जिसे हम 'मेमायर्स ऑफ़ बाबर' के नाम से जानते हैं। सीधे तुर्की भाषा से अंग्रेजी में अनुवादित यह पुस्तक दो खण्डों में है। तुर्की के अतिरिक्त बाबर फ़ारसी का भी बेहतरीन कवि था। फ़ारसी में उसके द्वारा आविष्कृत

काव्य-शैली को 'मुबायान' कहा जाता है। भारत अभियान पर आते समय बाबर अपने साथ कुछ मशहूर कवियों (अबुल वाहिद फरीगी, नादिर समरकंदी, ताहिर ख्वांदी) और इतिहासकारों (जैनुल आबिदीन खाफी और मिर्जा हैदर दोगलत) को साथ ले कर आया।

बाबर का पुत्र हुमायूँ स्वयं विद्याप्रेमी एवं विद्वानों का कद्रदान था। उसके दरबार में ख्वादामीर और बयाजिद नामक इतिहासकार थे। खुद हुमायूँ को तुर्की एवं फ़ारसी साहित्य के अतिरिक्त भूगोल, गणित, ज्योतिष और मुस्लिम धर्म-शास्त्र में रुचि थी। हुमायूं ने फ़ारसी में कुछ कविताएँ भी लिखीं। हुमायूँ की बहन गुलबदन बेग़म ने ऐतिहासिक ग्रन्थ 'हुमायूँनामा' की रचना की।

प्रख्यात मुग़ल बादशाह अकबर महान यद्यपि स्वयं पढ़ा-लिखा नहीं था लेकिन साहित्य एवं संस्कृति में उसकी रुचि सर्वाधिक थी। शायद यही वजह है कि इस काल में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की गयी। फ़ारसी के मौलिक ग्रंथों को लिखे जाने को बढ़ावा देने के अलावा अकबर ने संस्कृत, अरबी, तुर्की और ग्रीक भाषाओं के कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का फ़ारसी अनुवाद कराने का भी उपक्रम किया। इसके लिए उसने बाकायदा 'अनुवाद विभाग' की स्थापना की। इस तरह फ़ारसी में मौलिक सृजन के अलावा बेहतरीन फ़ारसी में अनुदित कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ अकबर के काल ही नहीं अपितु मुग़ल साहित्य की अनुपम उपलब्धि हैं। इस काल में रचे गए फ़ारसी के महत्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थों में अबुल फज़ल का 'अकबरनामा' और 'आईने-अकबरीश्य निजामुद्दीन अहमद का 'तबकाते-अकबरीश्य जौहर आफताबची का 'तजकिरातुल-वाकयातश्य अब्बास शेरवानी का 'तौफा-ए-अकबरशाही' उर्फ़ तारीखे-शेरशाह', एक हजार वर्षों का इतिहास बनाम 'तारीखे-अलफ़ी' जिसे विभिन्न विद्वानों के समूह द्वारा लिखा गया; मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी का 'मुन्तखब-उत-तवारीखश्य अहमद यादगार का 'तारीखे-सलातीने-अफगानाश्य बयाजिद सुलतान का 'तारीखे-हुमायूं' और फैजी सरहिंदी का 'अकबरनामा' शामिल हैं।

अकबर के काल में फ़ारसी में अनुदित ग्रंथों के अन्तर्गत जिच-ए-जदीद-ए-मिरजई' के एक भाग का फ़ारसी अनुवाद और 'तुजुके-बाबरी' का फ़ारसी अनुवाद, अरबी ग्रन्थ 'मुज्मुल-बुल्दान' का फ़ारसी अनुवाद, नकीब खां बदायूँनी और शेख सुलतान द्वारा महाभारत का फ़ारसी अनुवाद 'रज्मनामा' महत्वपूर्ण हैं। मुकम्मल खां ने गुजराती ज्योतिष ग्रन्थ 'तजक' का फ़ारसी अनुवाद किया। इसी क्रम में बदायूँनी ने चार साल के अथक परिश्रम के पश्चात 'रामायण' का फ़ारसी अनुवाद पूरा किया। हाजी इब्राहिम सरहिन्दी ने अथर्ववेद का अनुवाद किया। राजतरंगिनी, कालिया दमन (आयार दानिश), हरिबंश, बाईबिल और बाबरनामा जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद कराया गया। फैजी ने संस्कृत ग्रन्थ 'लीलावती' और मौलाना शाह मुहम्मद शाहाबादी ने संस्कृत ग्रन्थ राजतरंगिणी यानी 'कश्मीर का इतिहास' तथा अब्दुर्रहीम खानेखाना ने 'वाकियात-ए-बाबरी' का फ़ारसी अनुवाद किया। अबुल फज़ल ने 'पंचतन्त्र' की कथाओं का 'अनवर-ए-साहिली' नाम से फ़ारसी अनुवाद किया जबकि फैजी ने 'नल-दमयन्ती' की कथा का फ़ारसी अनुवाद किया।

जहांगीर के समय फ़ारसी पद्य भी अपने शिखर पर था। स्वयं बादशाह जहांगीर कवितायें लिखा करता था। उसकी पत्नी नूरजहाँ भी कवितायें लिखती थी। इस समय के ख्यातिप्राप्त कवियों ने अनेक दीवानों एवं मसनवियों की रचना की। इसी क्रम में कसीदे, रुबाईयाँ एवं ग़ज़ल भी लिखे गए। इस काल का प्रमुख कवि गिजाली था। जबकि इस समय का दूसरा महत्वपूर्ण कवि फैजी था जो अबुल फज़ल का भाई था। फैजी स्वयं एक बड़ा विद्वान् था जिसने अकबर के अनुवाद विभाग में कई महत्वपूर्ण कार्य किए। इसी के नेतृत्व में विश्व के सबसे बड़े महाकाव्य महाभारत का फ़ारसी अनुवाद संपन्न हुआ। इस समय के अन्य फारसी कवियों में उत्बी और नाजिरी का नाम प्रमुख है। निशापुर के मुहम्मद हुसैन नाजिरी ने बहुत अच्छी गज़लें लिखीं। जबकि शीराज का जमालुद्दीन उर्फी अपने समय का कसीदों का विख्यात लेखक था। ये दोनों मूलतः ईरान से भारत आए थे एवं अपनी मेधा के बल पर

इन्होने थोड़े ही दिनों में मुग़ल दरबार को इस्लामी जगत का प्रमुख सांस्कृतिक केंद्र बना दिया।

अकबर के उत्तराधिकारियों के काल में भी फ़ारसी साहित्य का समुचित विकास होता रहा। बादशाह जहांगीर स्वयं एक उच्च कोटि का विद्वान, समालोचक और कलाप्रेमी था। उसने 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी जिसमें उसके शासनकाल के प्रारम्भिक सत्रह वर्षों की घटनाओं का विवरण है। विषय और शिल्प की दृष्टि से बाबर की आत्मकथा के बाद ही तुजुके-जहाँगीरी का स्थान है। जहांगीर बाद में राज्य की कुछ ऐसी उलझनों में फसा कि वह इसे पूरा न कर सका। उसके आदेश पर मुतमिद खां बख्शी ने इसके आगे लिखना शुरू किया और उसने बादशाह की तरफ से उन्नीसवें वर्ष तक का इतिहास लिखा। इसके आगे के विवरण मौलाना मुहम्मद हादी ने लिखे और तुजुक-ए-जहाँगीरी को अंतिम रूप प्रदान किया। तुजुक में जहाँगीर ने कुछ घटनाओं का बेबाकी और विस्तार से वर्णन किया है। इसमें लड़ाईयों की पूरी परिस्थिति, उसके कारण दक्षिण में शाही फौजों की हार, शाही अफसरों में आपसी फूट, उनके लगातार तबादले, और उनका कर्तव्य से मुख मोड़ना आदि घटनाओं का विस्तार से वर्णन है। इसमें शासन सम्बन्धी कानूनों को भी उल्लिखित किया गया है। महावत खां द्वारा बादशाह को बंदी बनाए जाने सम्बन्धी घटना का विवरण देना जहांगीर के लिए दुष्कर और शर्मनाक रहा होगा। तुजुक में जहाँगीर ने अपने वजीरों और अधिकारियों के जीवन, उनकी विचारधारा और उनके बारे में खुद अपनी राय को रेखांकित किया है। इसके अलावा तुजुक में बादशाह ने अपनी अजमेर, मालवा, गुजरात, पंजाब और कश्मीर यात्रा का पूरा वर्णन दिया है। इस विवरण से इस समय मुल्क के विभिन्न भागों का हाल और गाँवों की जिंदगी पर ऐसी रोशनी पड़ती है जो आमतौर पर इस तरह के विवरणों में उपलब्ध नहीं हो पाती।

जहांगीर का दरबार अनेकानेक विद्वानों की उपस्थिति से शोभायमान रहता था। जहाँगीरी दरबार के विद्वानों की एक विस्तृत

सूची 'इकबालनामा-ए-जहाँगीरी' में मिलती है। इस सूची में उल्लिखित नामों में रायास बेग, गियास बेग, नकीब खां, मोतमिद खां, नियामतुल्लाह खां तथा अब्दुल हक़ देहलवी के नाम उल्लेखनीय हैं। मोतमिद खां ने 'इकबालनामा-ए-जहाँगीरी' नामक ग्रन्थ भी लिखा, जो जहाँगीर के शासन काल के इतिहास को जानने के लिए प्राथमिक स्रोत के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस काल के अन्य प्रमुख ग्रंथों में ख्व्वाजा कामगार की 'मअस्सर-ए- जहाँगीरीश्य नियामतुल्लाह की 'मकज्जम-ए-अफगानीश्य मुहम्मद कासिम फ़रिश्ता की 'तारीख-ए-फ़रिश्ता' और मुल्ला नक्शबंदी की 'मअस्सरे रहीनी' उल्लेखनीय है। इस काल में कुरान पर अनेक भाष्य भी लिखे गये और काव्य रचना भी अधिकाधिक मात्रा में हुई लेकिन अकबर द्वारा स्थापित किया गया अनुवाद विभाग इस समय लगभग निष्क्रिय हो गया।

विद्वानों को आदर-सम्मान एवं संरक्षण देने में शाहजहाँ ने अपने पूर्ववर्ती शासकों की नीति को ही आगे बढाया। शाहजहाँ के काल में कला-संस्कृति एवं साहित्य के सभी क्षेत्रों में चहुँमुखी प्रगति हुई। इसी वजह से शाहजहाँ का काल मुग़ल काल का स्वर्णकाल कहा जाता है। इस काल के प्रमुख साहित्यकारों में अबू जालिह कलीम, हाजी मुहम्मद जान, अब्दुल हमीद लाहौरी, अमीन इनायत खां और चन्द्रभान ब्राहमण विशेष उल्लेखनीय हैं। शाहजहाँ ने अबू जालिह कलीम को अपना राजकवि नियुक्त किया। कलीम ने 'साकीनामा' नामक ग्रन्थ लिखा। बादशाह ने अपने दरबारी कवि अब्दुल हमीद लाहौरी को अपने राज्य-काल का इतिहास लिखने का काम सौपा। इस क्रम में लाहौरी ने 'पादशाहनामा' नामक विशाल ग्रन्थ लिखा, जिसे उसके शिष्य मुहम्मद वारिस द्वारा पूरा किया गया। अमीन काजविनी नामक एक अन्य प्रसिद्द विद्वान् ने भी 'पादशाहनामा' नाम से एक और ग्रन्थ की रचना की। इनायत खां ने 'शाहजहाँनामा' और मुहम्मद सालिह ने 'अमल-ए-सालिह' नामक ग्रन्थ की रचना की। शाहजहाँ काल का एक अन्य महत्वपूर्ण लेखक चन्द्रभान ब्राहमण था जिसने 'चहार-ए-चमन' नामक ग्रन्थ लिखा। अपने इस ग्रन्थ

में चन्द्रभान ने शाहजहाँ की शासन प्रणाली एवं उसकी वास्तविक कार्य प्रणाली पर विस्तृत प्रकाश डाला है। शाहजहाँ के काल में सल्तनत के हालात और अधिकारियों से सम्बंधित महत्वपूर्ण जानकारियाँ सादिक खां के ग्रन्थ 'तारीख-ए-शाहजहानी' से प्राप्त होती हैं।

शाहजहाँ का बड़ा पुत्र दाराशिकोह भी साहित्यानुरागी था था अरबी, फ़ारसी एवं संस्कृत भाषाओं का बढ़िया जानकार था। धार्मिक नेताओं से शास्त्रार्थ करने में दारा की बहुत दिलचस्पी थी। उसने सूफी-दर्शन और मुसलमान संतों की जीवनियों पर कई ग्रंथों का प्रणयन किया। दाराशिकोह ने उपनिषदों, भागवत गीता एवं योगवाशिष्ठ जैसे हिन्दू धर्मग्रंथों के फ़ारसी में अनुवाद किए। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य वेदों का संकलन था जिसकी भूमिका में उसने वेदों को काल की दृष्टि से ईश्वरीय कृति माना और इसे कुरआन के सामान बताया। दाराशिकोह ने 'सफीनत-उल-औलिया' और 'मजम-उल-बहरैन' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। अपने विख्यात ग्रन्थ 'मज्म-उल-बहरैन' (दो सागरों का मिलन) में दाराशिकोह ने यह दर्शाने की कोशिश की कि हिन्दू और इस्लाम धर्म एक ही लक्ष्य के दो मार्ग हैं और वे मिल कर एक हो सकते हैं।

शाहजहाँ ने अपने काल में महत्वपूर्ण ग्रंथों के अनुवाद की तरफ ध्यान दिया। बनारस के अनेक पंडितों की मदद से दाराशिकोह ने बावन उपनिषदों का अनुवाद-संग्रह 'सिर्र-ए-अकबर' या 'सिर्र-ए-असरार' नाम से किया। हम ऊपर इस बात का जिक्र कर चुके हैं कि दारा ने भागवद्गीता का अनुवाद किया जबकि उसी की देख-रेख में 'तजुर्मा-योग वाशिष्ठ' को भी तैयार किया गया। इबून हरकरन ने रामायण का फ़ारसी में अनुवाद किया। मुंशी बनवाली दास ने संस्कृत ग्रन्थ 'प्रबोध चंद्रोदय' का फ़ारसी में 'गुलजार-ए-हिन्द' नाम से अनुवाद किया।

मुग़ल वंश का अंतिम महत्वपूर्ण शासक औरंगजेब मुस्लिम धर्म-शास्त्र और न्याय-शास्त्र का अच्छा ज्ञाता था। लेकिन उसकी काव्य में कोई रुचि नहीं थी। और वह अपने समय का इतिहास लिखे जाने के

खिलाफ था। इसके बावजूद कुछ रचनाकारों ने व्यक्तिगत रुचि ले कर इस काल का इतिहास लिखने का प्रयास किया। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ इस प्रकार हैं- खफी खां द्वारा लिखित 'मुन्तखब-उल-लुबाबश्य मिर्जा मुहम्मद काजिम शिराजी का 'आलमगीरनामाश्य ईश्वर दास नागर की मासिर-ए-आलमगिरीश्य भीमसेन सक्सेना बुरहानपुरी का 'नुस्खा-ए-दिलकुशा' और सुजान राय भंडारी की 'खुलासत-उत-तवारीख'। औरंगजेब ने बहुत से अरबी ग्रन्थों की सहायता ले कर फ़ारसी में न्याय और कानून की एक पुस्तक 'फ़तवा-ए-आलमगिरी' की रचना कराई। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निशा कविताएँ लिखती थी। हिम्मत खान, गनी कश्मीरी, गनीमत, तुवरत मूसवी, रसिख सरहिन्दी, नासिर अली सरहिन्दी, आक़िल खान राज़ी, जोया काश्मीरी, अशरफ मजंदरानी, नियमत खान हाली, खालिस इस्फ़हानी, वजीद बेदिल आदि उसके शासन काल के सुप्रसिद्ध कवियों में से थे।

काजिम शिराजी औरंगजेब के काल का सरकारी इतिहासकार था। शिराजी ने अपने ग्रन्थ 'आलमगीरनामा' में बादशाह औरंगजेब के पहले दस वर्षों का इतिहास लिखा है। शिराजी ने औरंगजेब की तारीफ़ की है जबकि उसके भाईयों एवं शाहजहाँ की निंदा और आलोचना की है। काजिम शिराजी की तर्ज पर हातिम खां ने भी 'आलमगीरनामा' लिखी। आकिल खां राजी ने 'वाकयात-ए-आलमगिरी' लिखी जिसमें उत्तराधिकार के युद्ध का विस्तार से वर्णन किया गया है। ध्यातव्य है कि आकिल खां इस लड़ाई के प्रत्यक्षदर्शी थे। ईश्वर दास नागर की 'फुतुहात-ए-आलमगिरी' में औरंगजेब के शासन काल के चौतीसवे वर्ष तक का इतिहास दिया है. इसमें राजपूतों खासकर राठौरों के साथ औरंगजेब के संबंधों का विस्तृत वर्णन किया गया है। भीमसेन सक्सेना की 'नुस्खा-ए-दिलकुशा' से दक्कन में औरंगजेब की गतिविधियों का पता चलता है। अपने इस ग्रन्थ में भीमसेन ने मुग़ल फ़ौज की कमजोरी, अधिकारियों की आपसी ईर्ष्या, और उमरा के भ्रष्टाचार का बेबाकी से वर्णन किया है.साकी मुसतइद खां की 'मासिर-ए-आलमगिरी में सतनामी विद्रोह का

जिक्र रोचक अंदाज में किया गया है। इसमें १६८० ई. के बाद अधिकारियों के तबादले, नियुक्ति और तरक्की की चर्चा भी की गयी है। इसी वजह से सर जदु नाथ सरकार इसे 'मुग़ल राज्य के गजेटियर' की संज्ञा देते हैं।

औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के काल में मुहम्मद शाह के समय (१७१३-१७४८ ई.) तक फ़ारसी साहित्य को संरक्षण मिलता रहा। मुहम्मद शाह के पश्चात फ़ारसी का प्रभाव क्षीण पड़ता चला गया। और अब उर्दू ने फ़ारसी का स्थान ले लिया। इसके बावजूद अट्ठारहवीं सदी तक फ़ारसी में सृजन कार्य चलता रहा। हालांकि इसका साहित्यिक मूल्य बहुत कम था। उत्तर मुग़ल काल में फ़ारसी में रची गयी कुछ प्रसिद्ध इतिहास कृतियाँ इस प्रकार हैं - गुलाम हुसैन की 'सियार-उल-मुतखारीनश्य मुहम्मद अली अंसारी की 'तारीखे मुजफ्फरी, हरिचरन दास की 'तारीखे-चहारे-गुलजार-ए-शुजाईश्य गुलाम अली नकवी की 'इमाद-उत-सआदतश्य सुलतान अली सफ़वी की 'मादान-उत-सआदतश्य खैरूद्दीन का 'इब्रतनामाश्य मुर्तजा हुसैन बिलग्रामी की 'हादीकात-उल-अकलीम'। दिल्ली दरबार के इतिहास लिखने की परम्परा शाह आलम द्वितीय के काल तक किसी न किसी रूप में चलती रही।

1.3 मुग़ल काल में उर्दू साहित्य का विकास

मुग़लों के भारत में आने तक उर्दू अपने अस्तित्व में आ चुकी थी। इसे तब 'जवान-ए-हिन्दवी' के नाम से जाना जाता था। मुग़लों के संपर्क से इस भाषा में ज्यादा लोच आया और इसका क्षेत्र भी बढ़ा। अब इसे हिन्दवी, रेखता, या हिन्दुस्तानी नाम से जाना जाने लगा। इसका उर्दू नाम इसे बाद में मिला। वस्तुतः हिन्दवी के उद्भव के मूल में ही हिन्दू-मुस्लिम पारस्परिक मैत्री एवं सहिष्णुता समाहित थी। इस तरह यह भारतीय जीवन की विविधताओं को एक-सूत्र से जोड़ने वाली भाषा के रूप में उभर कर सामने आई। मुग़ल सम्राट बाबर ने अपनी आत्मकथा 'तुजुके-बाबरी' में अनेक उर्दू शब्दों जैसे हाथी, पान, गिलहरी, दोपहर

आदि का इस्तेमाल किया है, जो इस बात का प्रतीक है कि वह यहाँ के परिवेश एवं यहाँ की भाषा से अच्छी तरह घुल-मिल चूका था। बाबर ने अपने दीवान में उर्दू की क्रियाओं का तुर्की छंदों के साथ प्रयोग किया है। इसकी एक बानगी प्रस्तुत है-

मुझ का न हुआ कुछ हवसे मानक व मोती

फक अहलेगाह बस बू लुगू सिदर पानी व रोटी

हुमायूँ के काल में भी उर्दू का विकास जारी रहा। अकबर ने अपने समय में हिन्दूओं को मुस्लिम समाज से जोड़ने के लिए कई प्रयास किये और इसी क्रम में उसने राजपूतों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। दोनों धर्मों के सम्मिलन के प्रयास के फलस्वरूप हिन्दवी की लोकप्रियता बढ़ने लगी। अकबर के काल में 'हिन्दवी ' को 'रेख्ता' नाम से भी पुकारा जाने लगा। इसी समय दक्कन में उर्दू का साहित्यिक भाषा का विकास हुआ। बीजापुर के आदिलशाह ने १५९९ ई. में 'नीरस' नामक पुस्तक की रचना की। गोलकुंडा के मुहम्मद कुली क़ुतुब शाह (१५८०-१६११ ई.) ने एक लाख से भी अधिक दोहे लिख डाले थे। अनेक उर्दू कवि और लेखक उसके संरक्षण में रहे थे। इन सबमें मुल्ला बाजी श्रेष्ठ थे। जिनकी रचना गद्य में 'सबरस' और पद्य में 'क़ुतुब-मुश्तरी' उत्कृष्ट मानी जाती है। दक्कन में वली, बाहरी और सिराज उर्दू में बेहतरीन लेखन कर रहे थे।

शाहजहाँ और औरंगजेब के समय उर्दू का एक साहित्यिक भाषा के रूप में विकास आरम्भ हुआ। और इसी समय से उर्दू शायरी की परम्परा आरम्भ हुई। शाहजहाँ के दरबारी कवि चन्द्रभान ब्राहमण शायरी करते थे। चन्द्रभान की गजल का एक शेर इस प्रकार है

खुदा ने किस शहर के अन्दर हमन को लाय डाला है

न दिलवर है, न साकी है न शीशा है न प्याला है।

एक अन्य उर्दू कवि अब्दुल गनी कश्मीरी ने उर्दू कविता के विकास में पूर्ण योगदान दिया।

इसके बावजूद यह सच्चाई है कि शक्तिशाली एवं प्रभावी मुग़ल-सम्राटों में से किसी ने भी उर्दू को कोई संरक्षण प्रदान नहीं किया। मुहम्मद शाह (१७१९-१७४८ ई.) ऐसा पहला मुग़ल बादशाह था जिसने उर्दू को अपने स्तर से पर्याप्त बढ़ावा दिया। मुहम्मद शाह ने दक्षिण के विख्यात कवि शमसुद्दीन वली (१६६९-१७७४ ई.) को अपने दरबार में कविताएं सुनाने के लिए ससम्मान आमन्त्रित किया और सम्मानित किया। वली १७७२ ई. में दिल्ली आए। अपने आध्यात्मिक गुरु शाद सादुल्ला गुलशन ने वली को अपनी कविताओं में फ़ारसी शैली और विषय के साथ-साथ दिल्ली के मुहावरों को अपनाने का परामर्श दिया। इस प्रयोग से उर्दू हिंदी से बिलकुल अलग हो गयी। वली की कविता की नज़ाकत हमें सहज ही अपनी तरफ आकृष्ट करती है। ये पंक्तियाँ देखिए

मुफलिसी सब बहार खोती है

इश्क का एतबार खोती है

वली के उदाहरण का अनुकरण अन्य रचनाकारों ने भी किया। इसके बाद उर्दू का प्रभाव बढ़ने लगा। परवर्ती बादशाहों के संरक्षण के कारण उर्दू न केवल शासन की अपितु जनता की भी भाषा बनती चली गयी। अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इसमें हिन्दी शब्दों के प्रयोग को समाप्त कर फ़ारसी शब्दों के प्रयोग पर बल दिया जाने लगा। जिससे उर्दू में क्लिष्टता आती चली गयी। यही नहीं उर्दू ने फ़ारसी काव्य का कलेवर और और परम्पराएँ अपना लीं। इसी समय उर्दू में अनेक प्रख्यात शायर हुए जिन्होंने अपनी रचनाधर्मिता से उर्दू को एक बेहतरीन साहित्यिक भाषा के रूप में तब्दील कर दिया। शेख जुहुरूद्दीन हातिम, मिर्जा मजहर जानेजाना, सदरुद्दीन मुहम्मद फाईज, फुगाँ, अब्दुल हई ताबाँ, मीर तकी मीर, मीर ख्वाजा, ख्वाज़ा मीर दर्द, मिर्जा मुहम्मद सफ़ी सौदा, सैय्यद मुहम्मद मीर सोज, शकी, हाकिम मुहम्मद खां मोमिन, इब्राहिम जौक, मिर्जा असदुल्लाह खां ग़ालिब और बहादुर शाह जफ़र ने उर्दू काव्य को एक नया मोड़ दिया। दिल्ली में हातिम ने उर्दू

साहित्यकारों का एक समूह बनाया था जिनमें सौदा, मीर और हसन जैसे प्रख्यात उर्दू शायर शामिल थे। इन कवियों ने अपने हुनर से उर्दू को और अधिक समृद्ध बनाया। उर्दू हिन्दू और मुसलमान दोनों तबकों में लोकप्रिय थी। और हिन्दू-मुसलमान दोनों उर्दू में लिखते थे। आनंदराम, मुखलिस, टेक चन्द बहार, वृन्दावन राकिम, भिखारी लाल अजीज, महाराव राय ताबाँ, बालमुकुन्द हुजुर, मंगलसेन उल्फत, राय सरबसुख 'दीवाना' आदि हिन्दू रचनाकारों ने अपने लेखन की भाषा उर्दू को चुना और अपनी रचनाशीलता से उर्दू साहित्य को समृद्ध किया। सौदा ग़ज़ल और कसीदा लिखने में अग्रगण्य थे। साथ ही वे एक बेहतर व्यंग्यकार भी थे। मीर तकी मीर (१७२५-१८१०ई.) एक अत्यन्त श्रेष्ठ गीतकार थे। मीर ने अपनी आत्मकथा 'जिक्र-ए-मीर' नाम से लिखी है। मीर का जीवन अत्यंत कष्ट में बीता जो उनके गीतों में भी बयाँ होती है। अपने समय के इस सर्वश्रेष्ठ शायर का लोहा परवर्ती शायरों मोमिन, जौक, ग़ालिब आदि सभी ने सराहा। मीर की एक शायरी प्रस्तुत है

नाजुकी उसके लब की क्या कहिए, पंखुड़ी एक गुलाब की सी है।

मीर उन नीमबाज आँखों में, सारी मस्ती शराब की सी है।।

दिल वो नगर नहीं कि फिर आबाद हो सके, पछताओगे सुनो हो! ये बस्ती उजाड़ के।।

मोमिन ग़ालिब और जौक के समकालीन थे। इनकी शायरी में आशिकमिजाजी का आधिक्य है। एक शायर के तौर पर मोमिन की अपनी पहचान है

तुम मेरे पास होते गोया, जब कोई दूसरा न होता।

ये हालत है तो क्या हासिल बयाँ से, कहूँ कुछ और कुछ निकले जबाँ से।

इब्राहिम जौक (१७८९-१८५४ ई.) की प्रतिभा के कारण बादशाह बहादुर शाह जफ़र ने इन्हें अपना गुरु माना और 'खाकान-ए-हिन्द' की उपाधि प्रदान की। जौक ने कसीदा और गजलें दोनों लिखीं। इनकी

गजलों में सरलता और सहृदयता का पुट है।

तुम भूल कर भी याद नहीं करते हो कभी

हम तो तुम्हारी याद में सब कुछ भुला चुके

ग़ालिब उर्दू साहित्य के बेहतरीन एवं सर्वश्रेष्ठ शायर माने जाते हैं। इन्होने १८५७ की त्रासदी को अपनी आँखों से देखा था। ग़ालिब की सीधी सरल भाषा मन को छू लेती है।

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन

दिल के खुश रखने को ग़ालिब का ख्याल अच्छा है

अन्तिम मुग़ल बादशाह बहादुर शाह जफ़र की भले ही कोई राजनीतिक उपलब्धि न हो लेकिन जफ़र की गिनती उर्दू साहित्य के श्रेष्ठ शायरों में जरूर की जाती है। अपने दर्द को जफ़र ने बखूबी अपनी गजलों में बयाँ किया है

न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का करार हूँ।

जो किसी के काम न आ सके, मैं वो एक मुश्ते गुबार हूँ।।

न जफ़र किसी का हबीब हूँ, न जफ़र किसी का रकीब हूँ।

जो बिगड़ गया वो नसीब हूँ, जो उजड़ गया वो दयार हूँ।।

मीर हसन सर्वश्रेष्ठ 'मसनवी' लेखक थे। ख्वाज़ा मीर दर्द मूलतः आध्यात्मिक व्यक्ति थे और ईश्वरीय प्रेम के गीत बड़े चाव से गाया करते थे। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने जब उन्नीसवीं सदी के उतरार्द्ध में उर्दू को अदालती भाषा घोषित कर दिया तब यह एक महत्वपूर्ण भाषा के रूप में लोकप्रिय होती चली गयी।

1.4 मुग़ल काल में हिन्दी साहित्य का विकास

हिन्दी का एक भाषा के रूप में विकास आठवीं सदी से आरम्भ होता है। सल्तनत काल में इसका प्रारम्भिक विकास हुआ और मुग़ल काल तक एक साहित्यिक भाषा के रूप हिंदी का विकास जारी था।

अकबर की सहिष्णु नीतियों के चलते हिन्दी के विकास के लिए एक बेहतर वातावरण तैयार हो चुका था। यही वजह है कि इस समय हिंदी कवियों द्वारा उच्च कोटि के काव्य-ग्रन्थ रचे गए। तुलसीदास, सूरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुर्रहीम खानखाना, रसखान और बीरबल इस समय के सर्वाधिक विख्यात विद्वान् हैं। हिंदी काव्य में बादशाह अकबर की बहुत रूचि थी और उसने अपने स्तर से इसको बढ़ावा देने का भरपूर प्रयास किया। वैसे भी अकबर विद्वानों का बहुत आदर एवं सम्मान करता था और उसका दरबार नवरत्नों से सुशोभित रहा करता था। राजा बीरबल, राजा मान सिंह, राजा भगवान दास, नरहरि और हरिदास अकबरी दरबार से सम्बंधित विद्वान थे, जो हिंदी रचनाधर्मिता से जुड़े हुए थे। अकबर स्वयं हिन्दी कविता का प्रेमी था, और उसने कई हिंदी कवियों को संरक्षण दिया था। कहा जाता है कि स्वयं अकबर ने भी हिन्दी में कुछ कविताएँ लिखीं(आईने-अकबरी, भाग एक, अंग्रेजी संस्करण, पृष्ठ ५२०)। इसके अतिरिक्त नन्ददास, बिट्ठलदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास सरीखे कवियों ने अपनी व्यक्तिगत रचनाधर्मिता से हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना महत्वपुर्ण योगदान दिया। अकबर ने अपने दरबारी और प्रसिद्ध कवि बीरबल (१५२८-१५८३ ई.) को 'कविप्रिय' की उपाधि प्रदान की। बीरबल 'ब्रह्मा' उपनाम से भी कविताएं लिखते थे। नरहरि को बादशाह ने 'महापात्र' की उपाधि प्रदान की। अकबर के काल के एक अन्य प्रमुख कवि थे- नरहरि बन्दीजन। बादशाह ने इन्हें 'महापात्र' की उपाधि प्रदान किया। इनके काव्य से अकबर इतना अधिक प्रभावित हुआ कि कवि के अनुरोध को स्वीकार कर अकबर ने अपने राज्य में गो-हत्या पर तत्काल प्रभाव से रोक लगा दिया। 'रुक्मिणी मंगल' और 'कवित्त श्रृंगार' इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इस युग के महान कवि नन्ददास को अकबर ने अपने दरबार में आमन्त्रित किया। नन्ददास ने दरबार में एक गीत सुनाया जिसका आशय इस प्रकार है- 'मेरी आत्मा उस महान आत्मा के समीप है।' कहा जाता है कि गीत गाते समय नन्ददास जी इतने तन्मय हो गए कि वहीँ उसी समय भक्ति में लीन हो कर मोक्ष को प्राप्त हो गए।

मुग़ल काल में रची गयी हिंदी की पहली प्रमुख कृति मालिक मुहम्मद जायसी की 'पदमावत' थी। इस ऐतिहासिक महाकाव्य और लोक-विश्रुत प्रेमाख्यान को जायसी ने १५४० ई. में पूरा किया। इस महाकाव्य में मेवाड़ की रानी पद्मिनी की प्रेम-कहानी आख्यानपरक ढंग से फारसी की 'मसनवी' शैली पर रची गयी है। पद्मावत के अंत में अलाउद्दीन के बारे में जायसी का कथन है

छार उठाई लीन्हि एक मुट्ठी दीन्हि। उडाई पिरिथिमी झूठी।।

विजयदेव नारायण साही के शब्दों में कहे तो 'पद्मावत की कथा केवल अलाउद्दीन, रतनसेन, और पद्मिनी की व्यक्तिगत ट्रेजेडी नहीं है। जिन शर्तों पर जायसी का समाज उलट-पुलट रहा है, उनके चलते समूची पृथ्वी के झूठी पड़ जाने की यह ट्रेजेडी है।

इस काल के भक्त कवि मूलतः दो शाखाओं में बंटे हुए थे। राम-भक्ति शाखा एवं कृष्ण भक्ति शाखा। राम भक्ति शाखा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाकार हैं- तुलसीदास (१५३२-१६२३ ई.)। तुलसीदास ने इस समय उच्च कोटि के अनेक कालजयी ग्रंथों की रचना की। इनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना 'रामचरितमानस' है जिसमें राम की कथा विस्तारपूर्वक कही गयी है। तुलसीदास ने इस महाकाव्य का लेखन १५७४ ई. में अयोध्या से शुरू किया और १५८४ ई. में बनारस में गंगा घाट पर पूरा किया। जार्ज ग्रियर्सन ने इसे 'हिन्दुस्तान के करोड़ों' लोगों की एकमात्र बाईबिल कहा है। इतिहासकार स्मिथ एवं जार्ज ग्रियर्सन का मत है कि रामायण बहुत ही श्रेष्ठ महाकाव्य है और तुलसीदास एक महान प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनके अनुसार तुलसीदास की शैली उनके विषय के अनुसार बदल जाती थी और उसके विभिन्न व्यक्तित्व के चरित्र नायक अपने वीर युग के बहुत ही सजीव पात्र हैं।' रामचरितमानस जनता में आज भी इस कदर लोकप्रिय है कि यह करोड़ों हिन्दुओं की धार्मिक आस्था से जुड़ी हुई है एवं घर-घर में अनिवार्य रूप से आदर एवं श्रद्धा के साथ रखी जाती है। ग्राउज ने तुलसीकृत रामचरितमानस के अपने अनुवाद में लिखा है- 'उनकी पुस्तक राजमहल से ले कर

झोपड़ी तक प्रत्येक व्यक्ति के हाथों में है तथा क्या ऊँच, क्या नीच क्या धनी, क्या रंक, क्या युवा क्या वृद्ध, हिन्दू जाति का प्रत्येक वर्ग इसे पढता, सुनता तथा इसकी प्रशंसा करता है।' तुलसी ने मूलतः इस ग्रन्थ की रचना अवधी में की है फिर भी इसमें आम बोल-चाल में प्रचलित ब्रज-भाषा एवं अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी जरूरत के अनुसार प्रयोग किया है। तुलसी ने अपने इस ग्रन्थ में जो उपमाएं दी हैं वे आस-पास के जीवन या प्रकृति से ली गयी हैं इसीलिए वे और प्रभावी बन पडी हैं। कुल मिलाकर भाषा प्रवाहपूर्ण एवं सुगठित है और कहने का अंदाज कुछ ऐसा है कि पढ़ने-सुनने वाले के दिलो-दिमाग पर गहरा असर पड़ता है। तुलसी दास के रचे कुल बारह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमें पांच बड़े और सात छोटे हैं। दोहावली, कवित्त रामायण, गीतावली, रामचरितमानस, विनय पत्रिका उनके बड़े ग्रन्थ हैं जबकि रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी, कृष्ण गीतावली और रामाज्ञा-प्रश्नावली छोटे ग्रन्थ।

भक्त कवियों की दूसरी धारा थी- कृष्ण भक्ति शाखा। ब्रज भूमि में इस शाखा का अधिक विकास दिखाई पड़ता है। बल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र विट्ठल दास के आठ शिष्य इस शाखा के प्रवर्तकों में से थे जिन्हें सम्मिलित रूप से 'अष्ट छाप' की संज्ञा दी जाती है। इस शाखा के महान कवि थे - सूरदास (१४७८-१५८३ ई.)। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और जन्म के अंधे थे। आइने अकबरी'' के अनुसार सूरदास को अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में माना गया है। लेकिन आधुनिक शोधों से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि अकबर के दरबार से सम्बंधित सूरदास 'सूरसागर' के रचयिता नहीं थे। सूरदास के आराध्य कृष्ण थे एवं कृष्ण की बाल लीलाएं तथा राधा से उनका प्रेम प्रसंग इनके वर्ण्य विषय हैं। सूरदास ने ब्रज भाषा को अपनी रचना का प्रमुख माध्यम बनाया। अपने पदों में कृष्ण की बाल लीलाओं का अद्भुत वर्णन कर बाल मनोविज्ञान पर इन्होने अपनी जो सूक्ष्म पकड़ दिखाई है वह अप्रतिम है एवं अन्यत्र दुर्लभ है। इसी आधार पर कुछ विद्वान् इन्हें तुलसी से भी श्रेष्ठ कवि

घोषित करते हैं। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के अनुसार 'गोपियों को छकाने वाली कृष्ण लीला के अन्तर्गत छोटी-मोटी कथा के रूपों में कुछ दूर तक मनोरंजक और कुतूहलप्रद ढंग से चलने वाली नाना-प्रसंगों की जो नवीन उद्भावना सूर-सागर में पाई जाती है वह तुलसी के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलती।' इनकी प्रमुख रचना 'सूरसागर' है जो लगभग पांच हजार पदों का संकलन है। सहज-सरल भाषा एवं सुन्दर शैली में लिखी गयी 'सूरसागर परिमाण में संयुक्त रूप से 'ओडिसी' एवं 'इलियड' से भी अधिक है। इस आधिक्य के बावजूद सम्पूर्ण रचना में काव्य की श्रेष्ठता देखते ही बनती है।' इनकी अन्य रचनाओं में 'भ्रमर गीत' महत्वपूर्ण है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण तालिका में सूरदास के १६ ग्रन्थों का उल्लेख है। इनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, नलदमयन्ती-, ब्याहलो के अतिरिक्त दशमस्कंध टीका, नागलीला, भागवत्, गोवर्धन लीला, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी, आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ग्रंथ ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, इस विचारधारा के अन्य प्रमुख कवि थे- 'रास-पंचाध्यायी' के रचयिता नन्ददास, गद्य-ग्रन्थ 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के लेखक विट्ठलदास, परमानंददास, कुम्भनदास, तथा 'प्रेम वार्तिका' के लेखक रसखान। अष्ट छाप के कवि कुम्भन दास को एक बार बादशाह अकबर के बुलाने पर फतेहपुर सीकरी जाना पड़ा। इसकी तकलीफ इन्हें बराबर बनी रही।

संतन को कहाँ सीकरी सो काम?

आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गयो हरिनाम।।

जिनको मुख देखे दुःख उपजत, तिनको करिबे पडी सलाम।।

कुम्भन दास लाल गिरिधर बिनु सबै काम बेकाम।।

मध्यकालीन भक्त संतों में एकमात्र प्रमुख नारी सन्त मीराबाई (संवत १५७३-१६०३) थीं। मीरा ने परम्परागत व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया एवं खुलेआम कृष्ण को अपना इष्ट देव ही नहीं बल्कि पति भी

मानने लगीं। यह उस पुरुषवादी व्यवस्था पर चोट थी जो स्त्री पर अपना एकाधिकार समझती थी। मीराबाई मेड़तिया के राठौड़ रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर को बसाने वाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं। मीराबाई की उपासना माधुर्य भाव की थी जिसमें रहस्य का समावेश था। ऐसा लगता है कि मीरा पर सूफियों का प्रभाव पड़ा था। मीरा का गुणगान नाभाजी, ध्रुव दास, व्यास जी, मलूक दास आदि भक्त संतों ने किया है। इन्होने अपने पदों की रचना प्रायः राजस्थानी भाषा में की। जबकि इनके कुछ पद विशुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा में भी मिलते हैं। विद्वतगण इनके द्वारा रचित चार ग्रंथों पर अपनी सहमति व्यक्त करते हैं- नरसीजी का मायरा, गीत गोविन्द टीका, राग गोविन्द, राग सोरठ के पद।

भक्त संतों में कुछ ऐसे मुसलमान कवि भी हुए जिनकी रचनाएँ हिन्दू भक्त संतों और विद्वानों से थोड़ी भी कमतर नहीं दिखतीं। यह भारतीय संस्कृति की वह गंगा-जमुनी धारा थी जिसमें धार्मिक विविधता के बावजूद सांस्कृतिक एकता दिखाई पड़ती है। अब्दुर्रहीम खानेखाना और रसखान ऐसे ही नाम हैं जिनके बिना भक्ति काल अधूरा-अधूरा सा लगेगा। रहीम (१५३५-१६२७ ई.) अरबी, फ़ारसी, तुर्की के साथ-साथ संस्कृत, हिंदी और राजस्थानी के भी अच्छे विद्वान थे। ये तुलसीदास के मित्र थे और इन दोनों कवियों के बीच पत्र-व्यवहार भी था। अब्दुर्रहीम खानेखाना के नीतिपरक दोहे जनता में बहुत लोकप्रिय थे। रहीम के ये दोहे एकदम साधारण भाषा में आम आदमी के जीवनानुभवों पर आधारित हैं और इसीलिए आज भी उत्तर भारत में लोग इन्हें रूचि के साथ पढ़ते हैं और अपनी बातों में प्रायः इन दोहों का उदाहरण देते रहते हैं। रहीम का एक दोहा उदाहरणार्थ प्रस्तुत है

रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।

जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तरवारि।।

रहीम का एक और दोहा तो आज के सन्दर्भ में और अधिक प्रासंगिक हो उठा है और इसका उल्लेख बारम्बार हर बार एक नवीनता

के साथ न केवल विशेषज्ञों द्वारा अपितु आम आदमी द्वारा भी साधिकार किया जाता है। लगभग पांच सौ वर्ष बाद भी जिस तरह यह दोहा प्रासंगिक बना हुआ है वह साबित करता है की कैसे जीवन से जुड़ कर कोई भी रचना सहज ही कालजयी बन जाती है।

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।

पानी गए ना उबरे, मोती, मानस, चून।।

'रहीम दोहावली' या 'रहीम सतसई', 'बरवै नायिका भेद' और 'श्रृंगार सोरठ' रहीम की प्रमुख रचनाएँ मानी जाती हैं।

एक अन्य मुसलमान कवि रसखान ने साधिकार हिन्दी में अपनी कविताएँ लिखीं। मुसलमान होने के बावजूद इनकी आस्था कृष्ण में थी। ये गोस्वामी बिट्ठलदास के शिष्य थे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में रसखान का उल्लेख मिलता है। इन्होने प्रेम के ऐसे सुन्दर पद रचे कि आगे चल कर जनसाधारण प्रेम या श्रृंगार संबंधी कवित्त और सवैयों को ही 'रसखान' कहने लगा। शुद्ध ब्रज भाषा का जो सरस-सहज प्रयोग रसखान ने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हुईं हैं- 'प्रेम वाटिका' (दोहे) और 'सुजान-रसखान' (सवैये)। ब्रज भूमि से सम्बद्ध ये सवैये आज भी जनता की जैसे जुबान पर हैं-

मानुस हौं तो वही रसखान बसौं संग गोकुल गाँव के ग्वालन।

जौ पसु हों तो कहाँ बसु मेरों चरो नित नन्द की धेनु मझारन।।

पाहन हौं तो वही गिरी को जो कियो हरी छत्र पुरंदर धारन।

जौ खग हौं तो बसेरो करों मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन।।

भारतीय इतिहास का मध्य काल इसी मायने में महत्वपूर्ण है कि इस काल में व्यापक स्तर पर साहित्य सृजन का कार्य किया गया। साहित्य सृजन केवल दरबारों तक ही सीमित नहीं था अपितु यह जन-जन में प्रसारित हो गया था। यही वजह है कि इस काल में गाँव-गाँव में अनेक लेखक-कवि हुए जिन्हें स्थानीय स्तर पर जमींदारों या समृद्ध

लोगों का संरक्षण प्राप्त हुआ। कुछ लेखकों ने तो स्वतंत्रतापूर्वक अपना लेखन कार्य किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में कहें तो 'यह प्रवाह राजाओं या शासकों के प्रोत्साहन आदि पर अवलंबित नहीं था। दर-असल वह जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह था जिसका प्रवर्तक काल था। न तो उसको पुरस्कार या यश के लोभ ने उत्पन्न किया था।'

जहाँगीर कला-साहित्य-संस्कृतिनुरागी शासक था। उसने खुद अपनी एक बेहतर आत्मकथा लिखी है। जहाँगीर का भाई दानियाल हिंदी का अच्छा कवि था। जहांगीर का दरबार कलाविदों, चित्रकारों और साहित्यकारों से भरा रहता था। जद्रुप गोंसाई, राम मनोहर लाल और किशनदास जैसे हिंदी कवि संतों को जहाँगीर ने संरक्षण प्रदान किया था। कहा जाता है कि बूटा या वृक्षराज नामक कवि बादशाह का विशेष कृपा-पात्र था। केशवदास इस काल के अत्यंत महत्वपूर्ण कवि थे। ये ओरछा नरेश महाराज राम के भाई इन्द्रजीत सिंह की सभा में रहते थे। केशव दास के बड़े भाई बलभद्र मिश्र भी हिंदी के अच्छे कवि थे। केशव दास संस्कृत साहित्य के भी अच्छे अध्येता थे अतः उनकी रचनाओं में संस्कृत की प्रख्यात कृतियों का ज्यादा प्रभाव मिलता है। इसीलिए केशव की रचनाएँ दुरूह होने के साथ-साथ अनुसरण-प्रधान रचना बन कर रह जाती हैं। केशव दास के कुल सात ग्रन्थ मिलते हैं- 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'रामचंद्रिका', 'वीरसिंहदेव चरित', 'विज्ञान गीता', 'रतन बावनी', और 'जहाँगीरजसचन्द्रिका'।

अगले बादशाह शाहजहाँ ने विरासत में मिली परम्परा को जारी रखा एवं अपने काल में साहित्य एवं संस्कृति को खूब बढ़ावा दिया। शाहजहाँ ने अपने शासन काल के आरम्भ में तिरहुत के दो हिन्दी कवियों को ख़िलअत और प्रत्येक को सोलह हजार रुपये दे कर सम्मानित किया। सुन्दर कविराय, मतिराम, बिहारी और कवीन्द्र आचार्य ने बादशाह की प्रशंसा में अवधी-ब्रजभाषा मिश्रित एक काव्य-रचना 'कवीन्द्र कल्पतरु' लिखी। शाहजहाँ के दरबार के अन्य प्रमुख कवियों में हरिनाथ, शिरोमणि मिश्र और वेदांग राय थे। सुन्दर कविराय से राजदूत का काम भी लिया

जाता था। बिहारी लाल इस काल के मशहूर कवि थे। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह के दरबार में रहते थे। श्रुति है कि जिस समय बिहारी जयपुर पहुंचे उस समय जयसिंह अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने अधिक आशक्त थे कि राज-काज के लिए राजमहल से बाहर निकलते ही नहीं थे। तब बिहारी ने यह दोहा लिख कर किसी प्रकार महाराज के पास राजमहल के अन्दर भिजवाया।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।

अली कली ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल।।

यह दोहा पढकर महराज बाहर निकले और तभी से बिहारी का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को इसी प्रकार के दोहे लिखने की आज्ञा दी। और जयसिंह के निर्देश पर इन्हें प्रत्येक दोहे के लिए एक अशर्फी मिलने लगी। इस प्रकार इन्होने कुल सात सौ दोहे लिखे जिन्हें 'बिहारी सतसई' क नाम से संकलित किया गया। श्रृंगार रस के ग्रंथों में 'बिहारी सतसई' को अपूर्व सम्मान एवं यश मिला। इसका एक-एक दोहा हिन्दी साहित्य में एक-एक रत्न माना जाता है। बिहारी इस एक ग्रन्थ के दम पर ही हिंदी साहित्य में अमर हो गए। बिहारी ने अपने एक-एक दोहे में ऐसा रस भरा है कि जैसे वे छन्द के समान लगते हैं। बिहारी के दोहे एक बानगी प्रस्तुत है।

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।

सौंह करे, भौंहनि हँसे, दैन कहै, नटि जाय।।

नासा मोरि, नचाई दृग, करी ककी की सौंह।

काँटे सी कसके हिए, गड़ी कंटीली भौंह ।।

शाहजहाँ के समय में दो महत्वपूर्ण भक्त कवि हुए। पहले भक्त-कवि थे अहमदाबाद के दादू और दुसरे भक्त कवि थे- जामनगर के महामति प्राण नाथ। इनके काम इस मायने में महत्वपूर्ण हैं कि दोनों ने हिदू और इस्लाम धर्म के बीच सद्भाव स्थापित करने की कोशिश की। प्राण नाथ ने प्रणामी सम्प्रदाय जबकि दादू ने दादू पंथी सम्प्रदाय

की स्थापना की।

महामति प्राणनाथ का जन्म गुजरात के काठियाबाड के नौतनपुरी में ६ सितम्बर १६१८ ई. को हुआ। इनके पिता केशव ठाकुर जामनगर के प्रधानमंत्री थे। इन्होने देवचन्द्र जी से 'तारतम्य' की दीक्षा ली। विवाह के बावजूद इनकी धर्मनिष्ठा में कोई व्यवधान नहीं आया। १६४६ से १६५१ ई. तक प्राण नाथ जी अरब में रहे। १६७८ ई. में हरिद्वार के कुम्भ मेले में 'निजानन्द सम्प्रदाय' की श्रेष्ठता स्थापित कर 'निष्कलंक बुद्ध' की उपाधि से विभूषित हुए। इसी समय मुग़ल बादशाह औरंगजेब द्वारा हिन्दुओं के प्रति भेदभावकारी नीति अपनाई जा रही थी। प्राणनाथ जी ने औरंगजेब को धर्म के सच्चे स्वरुप के बारे में समझाने का असफल प्रयास किया। १६८३ ई. में बुन्देला शासक छत्रसाल ने इनका शिष्यत्व स्वीकार किया और इनके मार्गदर्शन में अपना खोया हुआ राज्य और सम्मान हासिल किया। १६९१ ई. में प्राणनाथ जी चित्रकूट गए और यहीं पर इनकी अंतिम बानी 'कयामतनामा' का संग्रहण किया गया।

प्राणनाथ ने न केवल सैद्धांतिक स्तर पर बल्कि व्यावहारिक स्तर पर भी हिन्दू-मुस्लिम एकता को साकार करने की कोशिश किया। अपने सनंध, खुलासा, मारफत, कयामतनामा जैसे ग्रंथों में प्राण नाथ जी ने इस्लाम धर्म का विवेचन किया है तथा हिन्दू तथा इस्लाम धर्म में एकता स्थापित करने का प्रयास किया। इनका मानना था कि सभी धर्मों का सार एक है-

पर सवाब तो तिनको हो वही। छोटा बड़ा सब जीउ।

एकै नज़रों देखहिं।। सबका खाबिन्द पिउ।। (सनंध प्रकरण, ३३)

प्राणनाथ की बानियों का संकलन चौदह ग्रन्थों के रूप में किया गया। ये हैं- १. रास, २. प्रकाश (हिन्दी और गुजराती), ३. षडरुत, ४. कलस (हिन्दी एवं गुजराती), ५. सनंध, ६. किरंतन, ७. खुलासा, ८. खिलवत, ९. परकरमा १०. सागर, ११. सिंगार, १२.सिंधीबानी (सिन्धी और हिन्दी), १३. मारफत, १४. कयामतनामा (छोटा और बड़ा).

आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व खड़ी बोली पर आधारित 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा मानकर रचनाएँ करने का श्रेय प्राणनाथ जी को ही है। हिन्दुस्तानी का समर्थन करते हुए प्राणनाथ कहते हैं

बिना हिसाबें बोलियाँ मिले सकल जहान।

सबको सुगम जान के, कहूँगी हिन्दुस्तान।।

बड़ी भाषा ये ही भली, जो सबमें जाहेर।

करन पाक सबन को। अंतर मोहे बहेर।।

अंततः १६९४ ई. में प्राणनाथ जी के निधन के साथ ही भक्ति आन्दोलन की अंतिम कड़ी का अवसान हो गया।

औरंगजेब के समय हिन्दी की प्रगति में व्यवधान आया क्योकि हिन्दी के प्रति उसका व्यवहार अच्छा नहीं था। इसके बावजूद हिन्दू राजाओं के दरबार में हिन्दी को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता रहा। मतिराम, भूषन वृन्द आदि कवियों ने इस समय हिन्दू राजाओं के ही संरक्षण में ही अपनी रचनाधर्मिता जारी रखी एवं महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन किया।

मतिराम रीतिकाल के प्रख्यात कवियों में से एक हैं। बूंदी के महाराज भावसिंह के संरक्षण में रहते हुए इन्होने 'ललित ललाम' नामक अलंकार ग्रन्थ लिखा। अपने पिंगल ग्रन्थ 'छन्दसार' को मतिराम ने शम्भूनाथ सोलंकी को समर्पित किया। 'साहित्य सार', 'लक्षण श्रृंगार' और 'मतिराम सतसई' इनके अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनके दोहे बिहारी के समान ही सरस हैं। भारतीय जीवन के जिन मर्मस्पर्शी चित्रों को भाव रूप में इन्होने अपनी रचना में उतारा है वे हमारी अपनी अनुभूति के अंग बन जाते हैं और यही मतिराम की लेखनी की विशिष्टता है।

भूषण वीर रस के प्रसिद्ध कवि चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा रूद्र ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी और तभी से ये भूषण नाम से मशहूर हो गए। कई राजाओं के यहाँ रहने का इन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ। छत्रपति शिवाजी जो इनके काव्य नायक भी थे, से भूषण की मुलाक़ात हुई। पन्ना के महाराज छत्रसाल

ने इन्हें उचित मान-सम्मान प्रदान किया। श्रुति है कि महाराजा छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था जिस पर इन्होने कहा था- 'सिवा को बखानौ कि बखानौ छत्रसाल को।' जनश्रुति है कि इनके एक छंद पर शिवाजी ने इन्हें लाखों रूपये दिए थे। 'शिवराज भूषण', 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दशक' इनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

वृन्द मेड़ता के रहने वाले थे और कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह के राजगुरु थे। औरंगजेब के बंगाल अभियान के दौरान ये मुग़ल फ़ौज में शामिल थे और ढाका तक गए थे। इन्होने 'श्रृंगारशिक्षा', 'भाव पंचासिका' और वृन्द सतसई नामक रचनाएँ लिखीं। इनकी 'वृन्द सतसई' बहुत प्रसिद्ध रचना है जिसमें नीति के सात सौ दोहे संकलित हैं। इनका एक प्रख्यात दोहा इस प्रकार है-

भले बुरे सब एक सम, जौ लौं बोलत नाहिं।

जान परत हैं काग-पिक, ऋतु बसंत के माहिं।।

इस प्रकार मुग़ल काल में हिन्दी साहित्य का पर्याप्त विकास एवं प्रगति हुई। शासकों के संरक्षण के अतिरिक्त व्यक्तिगत रुचि ने भी इसके साहित्य को बढ़ावा दिया। हिन्दी साहित्य के भक्ति काल और रीति काल का यह युग था जिसके अन्तर्गत अनेक कालजयी ग्रंथों का प्रणयन किया गया।

1.5 संस्कृत भाषा के साहित्य का विकास

मुग़ल काल में संस्कृत साहित्य में मौलिक स्तर पर कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं मिलता तथापि इस काल में बड़े पैमाने पर संस्कृत ग्रंथों का प्रणयन किया गया। अकबर वह पहला मुग़ल बादशाह था जिसने संस्कृत के विद्वानों को न केवल प्रश्रय दिया बल्कि उसने संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रंथों के अनुवाद कराने पर भी विशेष ध्यान दिया। संस्कृत के अनेक कवि एवं विद्वान अकबर के दरबार में थे जिनका उल्लेख अबुल फजल अपने ग्रन्थ में करता है। अकबर संस्कृत के इन विद्वानो से हिन्दू धर्म, दर्शन, परम्परा एवं विचारधारा पर अक्सर विमर्श

करता था। अकबर ने अपने शासन काल में सर्वप्रथम 'पारसिक-प्रकाश' नामक फ़ारसी-संस्कृत शब्दकोश को संकलित कराया। इस काल के अनेक हिन्दू-पंडितों एवं जैनाचार्यों ने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों की रचना की। दरभंगा के महेश ठाकुर ने अकबर के समय का इतिहास संस्कृत में 'वृत्तांत-संग्रह' नाम से लिखा। इस ग्रन्थ में अकबर के काल तक मुग़ल बादशाहों का ऐतिहासिक विवरण है। 'भू-परिक्रमा' और 'प्रसंगावली' महेश ठाकुर की अन्य प्रमुख गद्य-रचनाएँ हैं। जैन-विद्वान् पद्मसुन्दर ने 'अकबरशाही श्रृंगार दर्पण' जबकि एक अन्य जैन विद्वान सिद्धचन्द्र उपाध्याय ने 'भानुचन्द्र-चरित' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस काल के तीसरे प्रमुख जैन विद्वान् देव विमल ने 'हीर-सौभाग्यम' की रचना कर उसे हीरविजय सूरी को समर्पित किया। श्री हरि ने 'शुभिष्ट हरावली' नामक काव्य ग्रन्थ लिखा। इन्हें अकबर युगीन कालिदास की संज्ञा दी गयी। बघेल राजा के दरबार के एक कर्मचारी माधव ने 'वीरभानु उदय' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें रीवा के बारे में ऐतिहासिक तथ्य दिए गए हैं।

जहांगीर और शाहजहाँ ने संस्कृत विद्वानों को प्रश्रय देने की परम्परा जारी रखी। सोमनाथ ने १६०९ ई. में संगीत विद्या पर महत्वपूर्ण पुस्तक राग-विवोध' की रचना की। जहांगीर ने 'चित्रमीमांसा खण्डन'(अलंकार शास्त्र पर आधारित ग्रन्थ) एवं 'आसिफ विजय' (नूरजहाँ के भाई आसफ खां की स्तुति) के रचयिता जगन्नाथ को 'पण्डितराज' की उपाधि प्रदान की। शाहजहाँ ने पंडित जगन्नाथ को अपना राजकवि बना दिया। इस समय पंडित जगन्नाथ ने 'रस-गंगाधर' और 'गंगा-लहरी' जैसे ग्रंथों की रचना की। कवीन्द्र सरस्वती, वंशीधर मिश्र एवं हरिनारायण मिश्र भी शाहजहाँ के दरबारी कवि थे। इस समय के संस्कृत कवियों का नामोल्लेख अब्दुल हामिद लाहौरी करता है। शाहजहाँ को इस समय रचनाकारों ने अपनी अनेक रचनाएँ समर्पित कीं जिनमें मुनीश्वर दास द्वारा रचित 'सिद्धान्त सार्वभौम' और भगवती स्वामी द्वारा रचित 'काव्यवृत्त बोध' प्रमुख हैं। रघुनन्दन नीलकंठ ने सत्रहवीं शताब्दी में

ज्योतिष-विद्या पर अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'ताजिका' लिखा जो 'समीना' और 'वर्ष-तन्त्र' नामक दो भागों में विभाजित थी। वेदांग राय ने १६४३ ई. में खगोल विद्या और ज्योतिष-शास्त्र का शब्द-संग्रह 'पारसी-प्रकाश' का प्रणयन किया। औरंगजेब के समय रघुनाथ ने मुहूर्त सम्बन्धी एक ग्रन्थ 'मुहूर्त माला' की रचना की। इसी समय चतुर्भुज ने 'रसकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ लिख कर इसे औरंगजेब के चाचा शाईस्ता खान को समर्पित किया। मुग़ल काल में 'सिद्धान्त-कौमुदी' नामक प्रमुख व्याकरण ग्रन्थ लिखा गया। यह ग्रन्थ पाणिनी पर भट्टो जी दीक्षित का भाष्य था जो संस्कृत भाषा सीखने वाले छात्रों द्वारा एक अनिवार्य पुस्तक के रूप में आज तक प्रयोग में लाई जाती है।

1.6 मुग़ल काल में क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य का विकास

बांग्ला भाषा का साहित्य:

बांग्ला ऐसी क्षेत्रीय भाषा थी जिसका मुग़ल काल में सर्वाधिक विकास हुआ। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव में अनेक बांग्ला ग्रंथों की रचना हुई जिसमें वैष्णव महात्माओं के जीवन के अतिरिक्त तत्कालीन बांग्ला हिन्दू समाज का प्रमाणिक विवरण प्राप्त होता है। सोलहवीं सदी में कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य-चरितामृत' जैसे ग्रन्थ की रचना की जो चैतन्य महाप्रभु का सर्वश्रेष्ठ जीवन-वृत्त है। इसे वैष्णव सिद्धांतों का शब्दकोश माना जाता है। चैतन्य के जीवन पर ही वृन्दावन दास ने 'चैतन्य-भागवत' और नरहरि चक्रवर्ती ने 'भक्ति-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त मुग़ल काल में कुछ महत्वपूर्ण कृतियों के बांग्ला में महत्वपूर्ण अनुवाद भी किये गये जिनमें मुकुंदराम चक्रवर्ती द्वारा अनुदित 'कवि कंकण चंडी', काशीदास द्वारा अनुदित 'महाभारत' और कृतिवास ओझा कृत 'रामायण' बंगाल में आज भी बहुत अधिक लोकप्रिय हैं।

पंजाबी भाषा का साहित्य:

पंजाबी साहित्य का वास्तविक उत्कर्ष सिखों के आदि गुरु गुरुनानक (१४६९-१५३८ई.) के समय हुआ। उनकी कवितायें भक्ति भावना और आध्यात्मिकता से भरी हुई हैं। गुरुनानक द्वारा गाये जाने वाली कविताओं को भी संकलित किया गया जिसे पंजाबी साहित्य में 'गेय' कहा जाता है। पांचवे गुरु अर्जुन देव (१५८१-१६०६ ई.) ने सभी गुरुओं के उपदेशो का १६०४ ई. में संकलन तैयार कराया जिसे 'आदिग्रन्थ' कहा गया। यही सिखों की धार्मिक पुस्तक बन गयी। अर्जुनदेव ने इस 'आदिग्रंथ' को १६०४ ई. में ही अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में स्थापित कर दिया। आदिग्रन्थ में रामानन्द, कबीर, बाबा फरीद, रविदास, सूरदास, नामदेव और मीरा बाई जैसे सन्त कवियों की महत्वपूर्ण रचनाओं को भी शामिल किया गया है। अन्य प्रमुख पंजाबी कवियों में भाई गुरदास (१५५१-१६२९ई.), माधोलाल हुसैन (१५३९-१५९४ ई.), शाह हुसैन (१५३९-१५९९ई.), सुलतान बाहु (१६२९-१६९० ई.), बुल्ले शाह (१६८०-१७५२ ई.) और अली हैदर (१६९०-१७९५ ई.) उल्लेखनीय हैं। अंतिम गुरु गुरुगोविन्द सिंह भी एक कुशल कवि एवं लेखक थे। सिखों के लड़ाकू जाति होने के कारण पंजाबी में अनेक समर-गाथाओं का लेखन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया। इन गाथाओं में प्रायः मुग़ल अत्याचारियों के विरुद्ध गुरु और उनके अनुयायियों का युद्ध और शौर्य प्रदर्शन का वर्णन किया गया है। इन गाथाओं को 'वार' कहा गया है। वार में 'भैरे दी वार' और चंडी-दी-वार' प्रमुख समर्गीत हैं। शौर्य के साथ-साथ प्रेम भी पंजाबी जीवन का प्रमुख तत्त्व रहा है। यही वजह है कि पंजाबी में अनेक प्रेम-गाथाएँ भी लिखी गयीं जिन्होंने कालान्तर में लोक-गाथाओं का रूप ले लिया। इनकी विषय वस्तु भारतीय के अलावा अरबी-फ़ारसी स्रोतों से ली गयीं। इनमें 'शीरीं-फरहाद', 'लैला-मजनू', 'युसूफ-जुलेखा', 'सोहनी-माहिवाल', 'हीर-रांझा', 'ससी-पुन्नू' और 'मिर्जा-साहिबान' उल्लेखनीय हैं।

मराठी भाषा का साहित्य:

जिस समय उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन चरम पर था ठीक उसी समय महाराष्ट्र क्षेत्र में भी अनेक सन्त कवि हुए जिन्होंने मराठी समाज

एवं साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान की। ऐसे संतों में नामदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ और तुकाराम महत्वपूर्ण हैं। ज्ञानदेव ने 'भावार्थ दीपिका' और 'अनुभवामृत' नामक ग्रंथों का प्रणयन किया जिसमें उनके दार्शनिक विचार प्रतिबिम्बित हैं। एकनाथ ने भागवद गीता के ग्यारहवें अध्याय का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया जो मराठा समाज में बहुत लोकप्रिय है। 'रुक्मिणी स्वयंबर' और 'भावार्थ रामायण' एकनाथ की अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं। एकनाथ के ही समकालीन एक अन्य विद्वान् ने 'भगवद्गीता' का भाष्य 'गीतार्नव' लिखा। मुक्तेश्वर ने महाभारत का सम्पूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किया। वामन पंडित ने 'भागावद्गीता' पर भाष्य लिखा। सत्रहवीं सदी के प्रमुख मराठी कवि संत तुकाराम (१६०८-१६५० ई.) ने सरल मराठी भाषा में भक्ति गीत लिखे जिन्हें 'अभंग' कहा गया। ये अभंग मराठी समाज में आज भी अत्यंत लोकप्रिय हैं और लोगों द्वारा गाये जाते हैं। कुणबी नामक शूद्र जाति में जन्मे तुकाराम के अभंगों का सामना करना लगातार अपने भयावह होते जा रहे समय से टकराना है। अपने एक अभंग में तुकोबा यानी तुकाराम कहते हैं- 'दिन-रात शामिल हम एक युद्ध में, भीतर अपने ही मन और बाहर दुनिया से।' लोकानुभव की शक्ति के बलबूते तुकाराम की सहज जन बोली ने मराठी भाषा को जीवन्त और समृद्ध बनाया जो आज भी लोक-व्यवहार में गूँजती रहती है। तुकाराम ने शब्द को अपने जीवन का पोषक बताते हुए कहा- 'शब्द ही हमारे घर की सम्पदा/ शब्द ही बनते हथियार/ जन-जन में जो बांटता/ मैं वह भी शब्द की ही सम्पत्ति।' तुकाराम की समकालीन कवियित्री बहिणा बाई मराठी संतों की देन के बारे में लिखती हैं - 'ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र में 'भागवद धर्म की आधारशिला रखी, नामदेव ने नीव तैयार किया, एकनाथ ने स्तंभों का निर्माण किया तथा तुकाराम ने उन पर विशाल गुम्बद बना कर भवन को पूरा किया है।' शिवाजी के गुरु समर्थ गुरु रामदास ने भी बेहतरीन कवितायें लिखीं जिनमें भक्ति और धर्म के साथ ही स्वतन्त्रता और रचनात्मक कार्यों के लिए आह्वान भी है। कुछ मुसलमान लेखकों ने भी मराठी में बेहतर लेखन किया। शेख मुहम्मद ने 'योग-अंगरामा', 'पवन-विजय', 'निष्कलंक-बोध', और

'ज्ञान-सागर' जैसे ग्रन्थ लिखे। अम्बर हुसैन ने गीता पर एक टीका 'अम्बर हुसैनी' लिखी। अट्ठारहवीं सदी के अंतिम महत्वपूर्ण कवि मोरोपंत थे जिन्होंने 'महाभारत', 'रामायण' और 'भागवद पुराण' का मराठी रूपांतरण प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त के अतिरिक्त इस समय अन्य प्रमुख क्षेत्रीय भाषाओं जैसे तमिल, मलयालम, कन्नड़, तेलुगु, असमिया, गुजराती, कश्मीरी, उड़िया आदि में रचनात्मक लेखन होता रहा और इन भाषाओं में भी इस समय कुछ उत्कृष्ट साहित्य रचा गया। इस प्रकार साहित्य के विकास की दृष्टि से मुग़ल काल एक स्वर्णिम काल के रूप में दिखाई पड़ता है। इस काल के साहित्य की मूल विशेषता जनता से उसका जुड़ाव है और यही उसकी मूल ताकत है। आम जन-जीवन से जुड़े प्रसंगों को अपने लेखन का विषय बना कर लेखकों-कवियों ने अपार ख्याति अर्जित की। जन-जीवन से जुड़कर उनकी रचनाएँ कालजयी बन गयीं और आज भी ये आम आदमी की स्मृतियों में सुरक्षित-संरक्षित हैं। तभी तो रोजमर्रा के जीवन में इस साहित्य से उद्धरण पेश करने में लोग गुरेज नहीं करते और ये रचनाएँ आज भी लोगों की जुबान पर बची-बसी हुई हैं।

1.7 सारांश

आपने इस इकाई में पढ़ा कि मुग़ल काल में किस प्रकार साहित्य का विकास हुआ। आपने इस इकाई में विभिन्न बादशाहों के काल में विविध भाषाओं के साहित्य की प्रगति और प्रमुख साहित्यकारों के बारे में भी पढ़ा। इसी क्रम में आपने यह भी जाना कि यह लेखन कविता के अतिरिक्त इतिहास, ज्योतिष, संगीत आदि विषयों में भी पर्याप्त रूप से किया गया। दरबारी संरक्षण के अलावा कुछ साहित्यकारों ने व्यक्तिगत रुचि से यह लेखन कार्य जारी रखा और अपने जमीनी लेखन के चलते वे जनता की स्मृतियों में युग-युगांतर के लिए सुरक्षित हो गए। इस काल का अधिकाँश लेखन आम जनता को ध्यान में रख कर किया गया। इस इकाई में आप यह भी जान सके कि मुग़ल काल की

राजभाषा फ़ारसी के अतिरिक्त आम बोल-चाल की भाषा के रूप में विकसित हो रही उर्दू, हिन्दी, पुरातन भाषा संस्कृत के साहित्य का अत्यधिक विकास तो हुआ ही, पंजाबी, मराठी और बांग्ला, तेलुगु, कन्नड़ जैसी क्षेत्रीय भाषाओं में भी महत्वपूर्ण लेखन इसी समय किया गया। क्षेत्रीय भाषाओं में साहित्य सृजन से इन भाषाओं ने एक समृद्ध भाषा का रूपाकार ले लिया जिससे भारतीय विविधता को और अधिक बढ़ावा मिला और भारतीय साहित्य का भण्डार और समृद्ध हुआ।

1.8 बोध प्रश्न

१. निम्नलिखित में से किस मुग़ल बादशाह ने तुर्की भाषा में अपनी आत्मकथा लिखी जो उस भाषा के श्रेष्ठ ग्रंथों में शुमार किया जाता है?

(अ). बाबर

(ब). हुमायूँ

(स). अकबर

(द). जहांगीर

२. महामति प्राणनाथ की वाणियों का संकलन समवेत रूप से किस नाम से जाना जाता है?

(अ). बीजक

(ब). कुलजमस्वरुप

(स). सनंध

(द). उपर्युक्त में से कोई नहीं

३. मुग़ल काल में उर्दू साहित्य के विकास पर प्रकाश डालिए?

४. किस आधार पर कहा जाता है कि मुग़लकालीन साहित्य आम जनता से जुडा साहित्य है? स्पष्ट कीजिए?

1.9 इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. नगेन्द्र, (संपा.), हिंदी साहित्य का इतिहास
2. चतुर्वेदी, परशुराम, उत्तर भारत की सन्त परम्परा; भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं
3. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, कबीर
4. साही, विजयदेव नारायण, जायसी
5. मिश्र विद्यानिवास एवं रजनीश, गोविन्द, (संपा.), रहीम ग्रन्थावली
6. प्रसाद, सूचित नारायण, महामति प्राणनाथ प्रेरित श्रीकृष्णप्रणामी वांगमय
7. रिजवी, सैय्यद अतहर अब्बास, (अनुवाद), मुग़लकालीन भारत (बाबर), मुग़लकालीन भारत भाग-एक एवं दो
8. चोपड़ा, पी. एन., पूरी बी.एन., दास एम.एन., भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास, भाग-२,
9. मजुमदार, रायचौधरी, दत्त, भारत का बृहद इतिहास
10. वर्मा, हरीश चन्द्र, मध्यकालीन भारत, खण्ड-२, (१५४०-१७६१)
11. श्रीवास्तव, ए. एल., मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
12. राधेश्याम, मध्यकालीन प्रशासन, समाज एवं संस्कृति
13. पाण्डेय, राजेन्द्र, 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास'
14. देवताले, चन्द्रकान्त, 'संत तुकाराम: कुछ चुने हुए अभंग'

इकाई-2

मुग़लकालीन उमरा वर्ग, संरचना एवं भूमिका

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 उमरा वर्ग की संरचना

2.3 उमरा में शामिल विभिन्न जातीय वर्ग

2.4 अमीर वर्ग का संगठन

2.5 उमरा वर्ग पर बादशाह का नियंत्रण

2.6 प्रशासन में उमरा वर्ग की भूमिका

2.7 सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में अमीरों की भूमिका

2.8 अमीर वर्ग और राजनीति

2.9 सारांश

2.10 बोध प्रश्न

2.11 शब्दावली

2.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.13 इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि

मुग़ल कालीन उमरा वर्ग का क्या अभिप्राय है?

मुग़लकालीन उमरा वर्ग का उद्गम कैसे हुआ?

उमरा वर्ग की संरचना कैसी थी?

मुग़ल बादशाह उमरा वर्ग पर किस तरह नियन्त्रण स्थापित करता था? तथा प्रशासन एवं सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में अमीरों की कैसी भूमिका थी?

2.1 प्रस्तावना

किसी भी समय का शासक अपनी सत्ता को संचालित करने के लिए अधिकारियों का सहयोग अनिवार्य रूप से लेता है। अगर राज्य रूपी व्यक्ति का मस्तिष्क बादशाह को मान लिया जाय तो यह अधिकारी वर्ग उस शरीर का हाथ एवं पैर होता था जिससे पूरी गतिविधियों का सुचारू रूप से संचालन संभव हो पाता है। मुग़ल काल में भी बादशाहों ने शासन-सत्ता के संचालन के लिए जिस उच्च अधिकारी वर्ग का गठन किया उसे ऐतिहासिक शब्दावली में 'उमरा' की संज्ञा दी गयी है। 'उमरा' शब्द वस्तुतः अमीर वर्ग का ही बहुवचन है। यह सामान्य तौर पर उन सभी अधिकारियों के लिए प्रयुक्त किया जाता था जो एक हजार या उससे अधिक के मनसब के अधिकारी थे। एक हजार जात वस्तुतः वह विभाजन रेखा थी जिससे सामान्य मनसबदारों एवं उमरा वर्ग की आसानी से पहचान की जा सकती थी। दूसरे अर्थों में कहें तो यह संख्या मुग़ल नौकरशाही में वह सुस्पष्ट विभाजक रेखा थी जिससे उच्च एवं निम्न अधिकारी वर्ग का पता चलता था। 'उमरा' पद पर उसी व्यक्ति की नियुक्ति की जाती थी जो अपनी राजनीतिक, प्रशासनिक, सैनिक एवं आर्थिक एवं न्यायिक गतिविधियों को राज्य की मंशा के अनुरूप संचालित कर सकने की योग्यता रखता था। यानी इस वर्ग के अंतर्गत उत्कृष्ट प्रतिभा वाले लोग ही चयनित किये जाते थे। सामान्य रूप से किसी अमीर के प्रशासनिक जीवन की शुरुआत छोटी मनसब से की जाती थी। बादशाह जब उसके राजनीतिक एवं प्रशासनिक गुणों से प्रभावित होता था तो पुरस्कारस्वरुप उसका ओहदा बढ़ा दिया जाता था एवं उसे 'उमरा' वर्ग की जिम्मेदारियाँ सौप दी जाती थीं। अपने विशिष्ट

अनुभवों के आधार पर यह 'उमरा' वर्ग बादशाह को शासन के संचालन में पूर्ण सहयोग प्रदान करता था।

2.3 उमरा वर्ग की संरचना

मुग़ल युग में आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से उमरा वर्ग वह विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग था जो मूलतः मनसबदारों से बना हुआ था। इस वर्ग में प्रायः समाज के उच्च प्रतिष्ठा वाले घराने ही शामिल हो पाते थे जिनमें भारतीय और विदेशी दोनों घराने होते थे। हालांकि सैद्धान्तिक रूप से उमरा वर्ग में समाज का हर व्यक्ति शामिल हो सकता था लेकिन व्यवहारिक स्तर पर यह संभव नहीं था। हिन्दुस्तान में आधिपत्य के समय बाबर यहाँ पर चगताई तुर्क अमीर संगठन के स्वरुप को साथ लाया था लेकिन मुग़ल शासकों ने कभी भी संकीर्ण जातिवाद की नीति नहीं अपनाई। मुग़लों की इसी विशेषता ने हिन्दुस्तान में उन्हें एक शासक वर्ग के रूप में जनता की वह स्वीकार्यता दिलाई जो सल्तनत कालीन शासकों को नसीब नहीं हो पायी थी। प्रारंभ में मुग़ल उमरा वर्ग में तूरान, ताजिकिस्तान, खुरासान, ईरान, आदि क्षेत्रों से आये अमीर शामिल थे। बाबर ने इस वर्ग में अफगान सरदारों को शामिल करने का प्रयास किया लेकिन उन्होंने शीघ्र ही साथ छोड़ दिया। अफगानों ने मुग़लों के साथ संघर्ष जारी रखा जो अकबर के समय चलता रहा। जहांगीर के समय में मुग़ल उमरा वर्ग में अफगान शामिल होने लगे।

मुग़ल बादशाहों में अकबर एक प्रयोगधर्मी बादशाह था। उमरा वर्ग में भी उसने कुछ प्रयोग किये जिससे इसका स्वरुप और विस्तृत हुआ। उसने इस संगठन को बहुजातीय और बहुधार्मिक स्वरुप प्रदान किया। कहना न होगा कि बादशाह का यह प्रयोग सफल रहा। विभिन्न वर्गों के शामिल होने के बावजूद इस मुग़ल उमरा वर्ग में समरूपता बनी रही। अकबर के समय इस विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग में अब भारतीय मुसलमानों को भी शामिल किया जाने लगा, जिन्हें शेख़जादा या हिन्दुस्तानी कहा

जाता था। यही नहीं अब अमीर वर्ग में हिन्दू भी शामिल किये जाने लगे जिनमें बड़ा वर्ग राजपूतों का था। एक अध्ययन के अनुसार अकबर के काल में मुग़ल उमरा वर्ग में हिन्दुओं की भागीदारी सोलह प्रतिशत की थी। ध्यातव्य है कि अमीर वर्ग में शामिल किये गए राजपूत या तो वंशगत राजा थे या फिर किसी उच्च खानदान से सम्बंधित थे। इस प्रकार नए वर्गों के शामिल होने के बावजूद उमरा वर्ग की पारंपरिक आभिजात्यता बरकरार रही। इतिहासकार इक्तिदार आलम खान के अनुसार 1560 से 1575 ई. के बीच जब मुग़ल शासन व्यवस्था में राजपूतों और भारतीय मुसलमानों का दखल हुआ और उच्च पदों पर फारसियों की तैनाती में बढ़ोत्तरी होने लगी। इससे अमीर वर्ग में तूरानी रंग फीका पड़ने लगा, साथ ही मुग़ल शासन व्यवस्था में चगताई परम्पराएं और रस्मो-रिवाज धीरे-धीरे ख़त्म होने लगे। इससे मुग़ल सत्ता का पूरी तरह से भारतीयकरण हो गया।

अकबर की धार्मिक उदारवादी नीति ने ही जो जमीन तैयार की अमीर वर्ग में हिन्दुओं की भागीदारी उसी परिणति थी। इनमें अधिकांशतः वे राजपूत राजा थे जिनके साथ अकबर ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। इस उमरा वर्ग में राजपूतों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे लोगों को भी शामिल किया गया जो इसके लिए योग्यता रखते थे। ऐसे लोगों में टोडरमल और बीरबल का नाम उल्लेखनीय है। टोडरमल राजस्व सम्बन्धी मामलों के विशेषज्ञ थे और अपने समय के काबिल और मशहूर लोगों में शामिल थे। अपनी योग्यता से ही टोडरमल दीवान के पद तक पहुंचे। बीरबल तो बादशाह अकबर के घनिष्ठ मित्रों में से थे। जे. एफ. रिचर्ड्स महोदय मुग़लिया अमीर वर्ग के संगठन का पूरा श्रेय अकबर को देते हुए कहते हैं- 'इससे न केवल नृजातीय और गुटबन्दी वाले हितों में संतुलन स्थापित हुआ बल्कि अमीरों को भी एक अलग व्यक्तिगत और वर्गीय पहचान मिली। यह पहचान थी शाही मनसबदारी या अमीरी की अर्थात एक फौजी कमांडर एवं शाही प्रशासक की। इस प्रकार अकबर के अधीन अमीर अपना रूतबा और अभिप्रेरणा मुग़ल साम्राज्य में अपनी

भागीदारी से प्राप्त करते हैं न कि अपनी वंश परम्परा या अपने साम्प्रदायिक जुडाव से।'

अकबर ने अपने समय में ईरानी अमीरों को भी पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया। इसीलिये अकबर के काल में फारस से भारत आने वाले अमीरों की संख्या उन्हें प्राप्त उच्च पदों के अनुसार काफी थी। अबुल फजल ने आईन-ए-अकबरी में उन अमीरों की सूची दी है जिन्हें वकील, वजीर, बख्शी एवं सदर जैसे पदों पर नियुक्त किया गया था। इनमें ईरानी अमीरों का वर्चस्व अन्य की अपेक्षा बहुत अधिक दिखाई पड़ता है। वकील के सात पदों में कुल दो ईरानी, वजीर के कुल दस पदों में सात ईरानी, बख्शी के कुल पंद्रह पदों में आठ ईरानी और सद्र के कुल सात पदों में दो ईरानी थे। वस्तुतः मुग़ल अमीर वर्ग में ईरानी अमीरों का वह दल अपना वर्चस्व बनाए हुए था जो हुमायूं के हिन्दुस्तान से ईरान भागने और पुनः हिन्दुस्तान जीतने पर उसके साथ बना हुआ था।

2.4 उमरा में शामिल विभिन्न जातीय वर्ग

विदेशी अमीर

1- ईरानी

2- तूरानी

मुग़लकालीन उमरा वर्ग विभिन्न देशीय एवं जातीय वर्गों से मिल कर बना था। आईन-ए-अकबरी से प्राप्त आंकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि पाँच हजार एवं इससे अधिक के मनसबदारों में तूरानी एवं ईरानी अमीरों की संख्या कुल अमीरों की संख्या का 1565 से 1575 ई. के बीच 78.12% तथा 1575 से 1595 के बीच 64.36% था। अकबर के उत्तराधिकारियों के समय में भी विदेशी अमीरों की संख्या मुग़ल काल में अच्छी खासी बनी रही। यद्यपि अकबर के शासन काल की तुलना में इसके अनुपात में कमी दिखाई पड़ती है। यहाँ 'विदेशी मुसलमानों' के टर्म को समझना जरूरी है। वास्तव में शाही सेवा में शामिल होने की एक प्रमुख शर्त यह होती थी कि उम्मीदवार अपने परिवार को हिन्दुस्तान

में रखे। चूकि सेवा काल जीवनपर्यंत होता था इसलिए अतः मूल देश वापस जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। ऐसे में दो-तीन पीढ़ियों से हिन्दुस्तान में रह रहे ऐसे अमीरों को जिन्होंने अपने जन्म स्थान से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था, किस बिना पर विदेशी कहा जा सकता है। इस आशय को समझने के पश्चात ईरानी एवं तूरानी अमीरों की संख्या में लगातार गिरावट दिखाई पड़ती है। अतहर अली के शोध के अनुसार 1658 से 1678 ई. के बीच 51 मनसबदारों में से जिनका पद 5000 या इससे अधिक का था, 32 से कम विदेशी नहीं थे। किन्तु इसमें से केवल 15 का जन्म हिन्दुस्तान के बाहर हुआ था। औरंगजेब के काल में विदेशी अमीरों की संख्या में अत्यधिक गिरावट आई जिसके लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ जिम्मेदार थीं। उजबेग और सफविद राज्य अब खुद दुर्बल हो चले थे ऐसे में वहां योग्य अमीरों का अभाव हो चला था। कारण चाहें जो हों मुग़ल वंश के इतिहास में औरंगजेब के काल में सही अर्थों में पहली बार मुग़ल अमीरों का भारतीयकरण दिखाई पड़ता है।

अफगान अमीर:

बाबर ने अफगान सुल्तानों को पराजित कर ही भारत में मुगलिया वंश नींव डाली थी। बाबर की इस विजय के पश्चात अफगान अमीरों ने उससे शान्ति समझौता कर लिया था। हुमायूँ के समय अल्प कालिक रूप से फिर अफगान सुलतान शेर शाह ने सत्ता संभाली थी जिससे मुग़लों के मन में अफगानों के सन्देह भर गया था। अकबर ने अपने समय में अफगान अमीरों को सत्ता से प्रायः दूर ही रखा। जहांगीर ने अपने समय में अफगान अमीरों को प्रोत्साहन दिया। शाहजहाँ के समय अफगान अमीर खाने जहाँ लोदी के विद्रोह के कारण शाहजहाँ भी अफगान अमीरों के प्रति विश्वास नहीं रखता था। शहजादे के रूप में औरंगजेब ने अफगानों को अपनी तरफ मिलाने का प्रयत्न किया लेकिन बादशाह बनने के बाद वह अफगानों के प्रति सतर्क रहा। अतहर अली के अनुसार एक हजार या इससे अधिक के (1658 से 1678 ई. के

बीच) कुल 486 मनसबदारों में से 43 अफगान थे। अफगान अमीरों की संख्या में इस वृद्धि का कारण बीजापुर के अंतर्गत सेवामुक्त अफगानों का मुग़ल अमीर वर्ग में शामिल होना था। वस्तुतः मुग़ल काल के दौरान अधिकांशतया अफगानों ने विद्रोह का ही रूख अपनाया जिससे मुग़ल शासक अफगानों के प्रति नकारात्मक बने रहे। यही वजह है कि मुग़ल दरबार में अफगान अमीरों का कभी कोई गुट नहीं रहा।

भारतीय मुसलमान:

भारतीय मुसलमानों को शेखजादा कहा जाता था। अधिकांशतः ये कुछ कबीलों से सम्बंधित थे- जैसे बरहा के सैयद एवं कम्बूज। अपने शासन के उतरार्द्ध में अकबर ने भारतीय मुसलामानों को मुग़ल अमीर वर्ग में शामिल कर लिया। भारतीय मुसलमानों का विश्वास अर्जित करने की दृष्टि से मुग़ल बादशाह की यह एक महत्वपूर्ण पहल थी। अकबर के बाद के बादशाहों ने भी भारतीय मुसलमानों के प्रति सकारात्मक नीति अपनाई। 1658 से 1678 ई. के बीच एक हजार व इससे अधिक के कुल 486 मनसबदारों में से 65 अर्थात 13.4% भारतीय मुसलमान थे। जबकि 1679 से 1707 ई. के बीच ये कुल अमीरों के 12% के बराबर थे। भारतीय मुसलमानों की संख्या के इस गिरावट के पीछे वस्तुतः इनका पतनोन्मुख होना उत्तरदायी था। बारहा के सैयदों ने उत्तराधिकार युद्ध में दारा का पक्ष लेकर औरंगजेब की सहानुभूति खो दी। अब जो नवीनतम गुट बने उनमें दक्षिण मूल के लोगों और कश्मीरी मुसलमानों की संख्या अधिक थी।

राजपूत:

अकबर की राजपूत शासकों के प्रति सहयोग की नीति ने मुग़ल साम्राज्य के अमीर वर्ग की संरचना में एक नवीन तत्व की स्थापना की जिससे राजपूत राजा और सरदार अमीर वर्ग के सदस्य बन गए। गए। इक्तिदार आलम खान के एक अध्ययन के मुताबिक़ 1575 से 1595 ई. के बीच 500 या इससे अधिक के कुल 184 मनसबदारों में से

राजपूत मनसबदारों की संख्या 27 थी और इसके अतिरिक्त तीन अन्य हिन्दू मनसबदार भी थे। अकबर के बाद भी यह नीति मुग़ल नीति की आधारशिला बनी रही। जहाँगीर के काल में सभी सैन्य-अभियानों में राजपूतों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। बीकानेर के शासक राय सिंह, जोधपुर के राजा सूरज सिंह और इनके मरणोपरांत इनके पुत्र राजा गज सिंह, मेवाड़ के राजा करण सिंह में से प्रत्येक को 5000 का मनसब प्राप्त था। आमेर के राजा मान सिंह को सात हजार का मनसब तथा राजा भारमल के पुत्र राजा जगन्नाथ को 5000 का मनसब प्राप्त था। इस तरह राजस्थान के चार प्रमुख राज्यों के शासकों में से प्रत्येक को 5000 या इससे अधिक का मनसब प्राप्त था। शाहजहाँ के काल में मेवाड़ के साथ संघर्ष के बावजूद राजपूत मनसबदारों की संख्या में वृद्धि का यह क्रम जारी रहा और मुग़ल अमीर वर्ग में इनकी प्रभावी स्थिति बनी रही।

उत्तराधिकार के युद्ध के समय से गद्दी पर बैठने के समय तक औरंगजेब ने राजपूतों के प्रति उदार एवं सद्भाव की नीति अपनाई और उन्हें विशिष्ट पदों पर नियुक्त भी किया। औरंगजेब राजपूतों के महत्त्व से भलीभांति परिचित था। इसी क्रम में धरमत के युद्ध (16 अप्रैल 1658 ई.) में उसने राजा राज सिंह को अपने पक्ष में करने के प्रयास करने शुरू कर दिए। शुजा के विरुद्ध खजुवा के युद्ध में महाराणा का पुत्र औरंगजेब के पक्ष में था। इस सहयोग के कारण औरंगजेब ने राणा के मनसब को बढ़ा कर 6000 जात 6000 सवार का कर दिया। यही नहीं शाहजहाँ द्वारा जब्त किये गए पुर, मंडल आदि परगनों के अतिरिक्त डूंगरपुर और बांसवाडा भी महाराणा को प्रदान किये गए। सामूगढ़ के युद्ध में दारा के पराजय की सूचना के पश्चात राजा जय सिंह भी औरंगजेब से आ मिले। धरमत के युद्ध के पश्चात औरंगजेब ने राजा जसवंत सिंह के प्रति उदार नीति अपनाई और उनका पहले का मनसब (70000 जात 7000 सवार) बरकरार रखा गया। साथ ही उन्हें गुजरात की सूबेदारी भी सौप दी गयी। बीकानेर के राजा को भी क्षमा

प्रदान करते हुए उनके पूर्व के पद पर आसीन कर दिया गया। 1665-66 ई. में यानी शाहजहाँ और मिर्जा राजा जय सिंह की मृत्यु के पश्चात मुग़ल अमीर वर्ग में राजपूत मनसबदारों की स्थिति में गिरावट आरम्भ हो गयी।

दक्खनी:

मुग़लों ने यह शब्द दक्षिण से सम्बन्धित अमीरों जिन्हें मुग़ल सेवा में ले लिया गया था, के लिए प्रयुक्त किया। औरंगजेब के शासन काल के ग्यारहवें वर्ष में उन तमाम अमीरों को, जो सेवा में आने के पूर्व बीजापुर व गोलकुंडा राज्य में सेवारत थे, दक्खनी समझा गया। यद्यपि तकनीकी आधार पर इससे मराठों को अलग रखा गया। औरंगजेब के शासन के पूर्वार्द्ध में दक्खनी अमीरों की संख्या काफी कम थी। 1681 ई. के पश्चात मुग़ल अमीर वर्ग में दक्खनी अमीरों की व्यापक पैमाने पर भर्ती हुई। बीजापुर और गोलकुंडा के पतन के पश्चात यहाँ के अमीरों को मुग़ल अमीर वर्ग में शामिल कर लिया गया। इन दक्खनी लोगों के लिए जमानत की शर्त भी हटा दी गयी। 1658 से 1678 की अवधि में 1000 जात के ऊपर के कुल मनसबदारों में दक्खनी अमीरों का प्रतिशत 11.8 था जबकि 1679 से 1707 की अवधि में दक्खनी अमीरों का प्रतिशत बढ़ कर कुल 27.8 हो गया। मराठों को अपने अधिकार में लाने में असफल औरंगजेब ने दक्खनी अमीरों को मुग़ल सेवा में आकर्षित करने की नीति तब तक जारी रखी जब तक परम्परागत मुग़ल अमीर वर्ग की संरचना में उथल-पुथल नहीं मच गयी।

मराठे:

अकबर के बाद मुग़ल अमीर वर्ग में मराठों का जुडाव दिखाई पड़ता है। मुग़ल सत्ता के दक्षिण में प्रसार के साथ ही मुग़लों का मराठा सरदारों के संपर्क में आना अवश्यम्भावी था। जहांगीर ऐसा पहला मुग़ल बादशाह था जिसने अनुभव किया कि दक्कन के मामलों में मराठे महत्वपूर्ण थे और उसने उन्हें अपनी तरफ करने की भरपूर चेष्टा की।

शाहजहाँ ने इस नीति को जारी रखा। शाहजहाँ के दरबार में मराठा मनसबदारों में शिवाजी के पिताजी शाहजी शामिल थे। यद्यपि उन्होंने शीघ्र ही उनका साथ छोड़ दिया। औरंगजेब ने भी अपने दरबार में मराठा और दक्खनी अमीरों को शामिल करने का प्रयास किया। मराठा सरदारों को अपनी तरफ मिलाने का औरंगजेब का जो उद्देश्य था वह असफल रहा। क्योंकि मराठा सरदारों के शाही सेवा में जाते ही उनका स्थान दूसरे मराठा सरदार ले लेते थे। शिवाजी के नेतृत्व में मराठा प्रतिरोध जारी रहा। फिर भी औरंगजेब के समय में मुग़ल उमरा वर्ग में मराठों की प्रधानता दिखाई पड़ती है। आंकड़ों पर एक नजर डालने पर तस्वीर स्पष्ट हो जाती है। शाहजहाँ के समय 1000 से ऊपर मनसब वाले कुल अमीरों में मराठों का प्रतिशत 2.9 था जबकि औरंगजेब के समय में उसके शासन के पूर्वार्द्ध में 1658 से 1678 के बीच मराठों का प्रतिशत 5.5 प्रतिशत था। औरंगजेब के शासन के उतरार्द्ध में 1678 से 1707 ई. की अवधि में मराठों का यह अनुपात बढ़ कर 16.7 प्रतिशत हो गया। ध्यातव्य है कि शाहजहाँ के समय में हिन्दू मनसबदारों का अनुपात लगभग चौबीस प्रतिशत था जबकि औरंगजेब के शासन काल के उतरार्द्ध में यह अनुपात 33 प्रतिशत हो गया। साथ में हिन्दू मनसबदारों की कुल संख्या डेढ़ गुनी से भी अधिक हो गयी। हिन्दू मनसबदारों में आधी से अधिक संख्या मराठों की ही थी।

2.5 उमरा वर्ग का संगठन

बाबर, हुमायूँ तथा अकबर के प्रारम्भिक शासनकाल के पश्चात उमरा वर्ग एक सुसंगठित बहुजातीय समूह के रूप में उभर कर सामने आया। इस उमरा वर्ग में तूरानी (मध्य एशियाई), ईरानी, अफगान, शेख़जादा (भारतीय मुसलमान), राजपूत आदि शामिल थे। सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में मुग़ल सत्ता के विकास के साथ ही बीजापुरी, हैदराबादी मुसलमानों एवं मराठों का भी अमीर वर्ग में समावेश हुआ। इससे अमीर वर्ग का वह चरित्र बना जो वास्तविक अर्थों में राष्ट्रीय, धर्मनिरपेक्ष और समन्वयवादी था।

अकबर और जहाँगीर दोनों ने अमीर वर्ग के संगठन पर पूरा ध्यान दिया। अमीर वर्ग में उन्हीं नए लोगों को शामिल किया जाता था जिसके नाम की सिफारिश मीर बख्शी या अन्य प्रमुख अमीर करते थे। बादशाह उस नाम पर समुचित विचार करते थे और यथेष्ठ समझने पर अमीर का दर्जा प्रदान करते थे। बादशाह को यह अधिकार होता था कि उचित व्यक्ति को अमीर नियुक्त करे। अमीरों को उनके बेहतर काम देखते हुए उन्हें पदोन्नत करे। अमीरों से असंतुष्ट होने पर बादशाह उनको पदावनत या बर्खास्त कर सकता था। अमीरों को दण्डित करने का अधिकार भी बादशाह के पास था। इन अधिकारों से बादशाह का अपने अमीरों पर पूरा दबदबा बना रहता था।

हम आपको यह पहले ही बता आये हैं कि मुग़ल अमीर वर्ग का चयन मनसबदारी व्यवस्था के ढाँचे से किया जाता था। यह 'मनसब' उसके पदधारी मनसबदार की स्थिति का द्योतक है। वस्तुतः मनसब शब्द अमीर की स्थिति का निर्धारक होने के साथ-साथ उसके वेतन और उसके द्वारा रखी जाने वाली सेना और उसके साजो-सामान को भी निश्चित करता था। प्रत्येक मनसबदार की स्थिति उसके 'जात' और 'सवार' पद से निश्चित होती थी। इन पदों के अर्थ के बारे में इतिहासकारों में मत वैभिन्न्य है। मोटे तौर पर ब्लाकमैन महोदय की स्थापना से अधिकाँश इतिहासकारों की सहमति है। ब्लाकमैन के अनुसार एक मनसबदार को अपनी 'जात' के पद की संख्या के अनुपात में कुछ सैनिक रखने पड़ते थे और सवार के पद की संख्या में घुड़सवार रखने पड़ते थे। मनसबदारों को वेतन के रूप में या तो नकद भुगतान किया जाता था या उन्हें अन्य वित्तीय सुविधाएँ प्रदान की जातीं थीं। जिन्हें नकद वेतन दिया जाता था उन्हें 'नकदी' कहा जाता था। दूसरे प्रकार के मनसबदार को 'जागीरदार' या 'तुयुलदार' कहा जाता था। ऐसे अमीरों की संख्या अधिक थी जिन्हें वेतन का कुछ भाग नकद और कुछ भाग 'जागीर' के तौर पर दिया जाता था। वेतन के अतिरिक्त बादशाह इन मनसबदारों को समय-समय पर पदवियाँ, सनद, पोशाकें और इनाम

देकर सम्मानित करता था।

2.6 उमरा वर्ग पर बादशाह का नियन्त्रण

प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए बादशाह अपने उमरा वर्ग पर अनेक तरह से नियंत्रण करता था। उमरा वर्ग द्वारा निर्धारित संख्या में 'जात' या 'सवार' रखा जा रहा है या नहीं, उमरा वर्ग कहीं भ्रष्टाचार में तो लिप्त नहीं है, वे अपने दायित्वों का निर्वहन तो उचित तरीके से कर रहे हैं आदि बातों पर बादशाह सजग नजर रखता था। इसी क्रम में अकबर ने दो प्रथाएं शुरू कीं। पहला अकबर ने घोड़ों को दागने की प्रथा शुरू किया जिससे कि घोड़ों में कोई हेराफेरी न की जा सके। दूसरा सैनिकों के लिए 'चेहरा प्रथा' शुरू किया जिससे कि जाँच के समय वास्तविक सैनिक की पहचान की जा सके। बादशाह के आदेशों का पालन करना, अपेक्षित सेना का रख-रखाव करना उमरा वर्ग का प्रमुख कर्तव्य होता था। इसके अतिरिक्त उमरा वर्ग से यह भी अपेक्षा की जाती थी कि वह मुग़लिया परमाधिकारों का किसी कीमत पर उल्लंघन नहीं करेगा, शत्रु राज्य से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा, राज्य के विद्रोहियों से किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं बरतेगा और प्रजा पर अत्याचार-अनाचार नहीं करेगा। अन्यथा की स्थिति में दोषी अमीर को राज्य द्वारा कड़ी से कड़ी सजा दी जाती थी। अमीरों पर प्रभावी नियन्त्रण बनाए रखने के लिए समय-समय पर उनके आवधिक तबादले भी किये जाते थे जिससे वे स्थानीय तत्वों से कोई गठबंधन न करने पायें या अपनी शक्ति उस क्षेत्र विशेष में इस तरह न बढ़ा ले जिससे वह आगे कभी बादशाह को चुनौती देने की स्थिति में आ सके।

मुग़ल बादशाहों ने एक और नियम जिसे 'राजगामिता नियम' (Law Of Excheat) कहा जाता है, का सहारा लेकर अमीरों पर अपना सुस्पष्ट एवं कारगर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। इस नियम के अनुसार मरने वाले की सम्पत्ति राज्य द्वारा जब्त कर ली जाती थी और उस

सम्पत्ति पर बादशाह का अधिकार स्थापित हो जाता था। हाकिन्स और बर्नियर जैसे यूरोपीय इतिहासकारों ने इसे 'प्राच्य निरंकुशतावाद' का उदाहरण बताते हुए इसकी निन्दा की है लेकिन प्रोफ़ेसर सतीश चन्द्र ने इस नियम का यह कहते हुए बचाव किया है कि मुग़ल कालीन अमीर राज्य का सेवक होता था और जागीर उसे उसकी सेवाओं के लिए राज्य द्वारा प्रदान किया जाने वाला भुगतान होता था। इसीलिए उसकी मृत्यु के बाद यह मानते हुए कि उसकी सेवा समाप्त हो गयी है, राज्य द्वारा उसकी जागीर को जब्त कर लिया जाता था। बहरहाल इस क़ानून से राज्य में बादशाह की सर्वोपरिता स्थापित हो गयी। यही नहीं यह भी स्पष्ट हो गया कि उमरा वर्ग सीधे राज्य की सेवाओं के अधीन हैं और राज्य जब चाहें उनकी सेवाओं को समाप्त कर उनकी छुट्टी कर सकता है। पद के उत्तराधिकार पर आधारित न होने से उमरा वर्ग में बेहतर काम करने की लगन बनी रही जिसका लाभ राज्य को लगातार मिलता रहा। साथ ही उत्तराधिकारजनित खामियों से भी मुग़ल नौकरशाही प्रायः बची रही जिससे कि मुग़ल राज्य एक लम्बे समय तक शक्तिशाली राज्य के रूप में अपने अस्तित्व में बना रहा।

अकबर के पश्चात उसके उत्तराधिकारी जहांगीर ने भी नियंत्रण और संतुलन के इन उपायों को अपने समय में जारी रखा। शाहजहाँ ने भी थोड़े संशोधनों के साथ इस नियम को जारी रखा। उसने अपने काल में 'लघुकृत सैनिक दायित्व' (Reduced Military Obligation) और 'लघुकृत वेतनमान' की प्रथा शुरू की जिसे औरंगजेब ने अपने समय में यथावत बनाए रखा। इस प्रकार औरंगजेब के समय तक थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ उमरा वर्ग को नियंत्रित करने वाले ये नियम चलते रहे। दक्कन की समस्या में औरंगजेब के उलझने के बावजूद यह परम्परा चलती रही।

2.7 प्रशासन में अमीर वर्ग की भूमिका

मुग़ल काल में अमीर वर्ग को मोटे तौर पर दो समूहों में बांटा

जा सकता है। पहला समूह ऐसे अमीरों का था जो दरबार में उपस्थित रहते थे। ऐसे अमीरों को 'तैनात-ए-रकाब' कहा जाता था। दूसरा समूह वह था जो प्रान्तों में नियुक्त किया जाता था। इन्हें 'तैनात-ए-सूबाजात' कहा जाता था। अमीरों का यह वर्गीकरण उनकी नियुक्ति के आधार पर ही किया गया है क्योंकि अमीरों का तबादला होता रहता था। कोई भी अमीर अपनी नयी नियुक्ति का पद भार संभालने के पूर्व दरबार में बादशाह के सामने उपस्थित होता था। लेकिन अगर किसी अमीर का तबादला दण्ड स्वरुप किया जाता था तब उसे दरबार में हाजिर नहीं होने दिया जाता था। जो अमीर दरबार में तैनात रहते थे उन्हें आरक्षित बल माना जाता था और उन्हें किसी भी महत्वपूर्ण सैनिक अभियान में भेजा जा सकता था।

अमीरों को समय-समय पर बादशाह को नजराना देना पड़ता था जिसे 'पेशकश' कहा जाता था। साथ ही उसे सभी दरबारी शिष्टाचारों का पालन करना होता था। इसका उद्देश्य यही था कि इन अमीरों के ऊपर शाही दबदबा बना रहे। बादशाह भी अमीर वर्ग को अहसास कराता रहता था कि उसके सामने अमीरों की हैसियत एक नौकर भर की है और वह जब चाहे उन्हें दण्डित कर सकता है, पदावनत कर सकता है या बर्खास्त कर सकता है। अपने इस अधिकार से बादशाह जनता के ऊपर भी प्रभाव स्थापित करना चाहता था।

चूकि अमीर वर्ग मनसबदारी व्यवस्था का अंग होता था इसलिए उसे सैनिक, नागरिक, वित्तीय सभी तरह के कार्य करने पड़ते थे। हर मनसबदार का अपने पद के मुताबिक न्यूनतम सैनिक दायित्व निर्धारित था लेकिन जरूरत पर उसे और दायित्व सौपें जा सकते थे। यद्यपि अमीर के मनसब और उसे मिले पद में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता था फिर भी उसमें एक संगति जरूर होती थी। इसी क्रम में बड़े मनसबदारों को प्रायः अधिक महत्वपूर्ण पद प्रदान किये जाते थे।

2.8 सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में अमीरों की भूमिका

इस समय हर अमीर के पास उसको सहयोग प्रदान करने के लिए एक बड़ा अमला होता था जिसमें बड़ी संख्या में सैन्य टुकड़ी, अधिकारी, घरेलू कर्मचारी, नौकर-चाकर होते थे। इसके साथ-साथ इनके पास हाथी-घोड़े और आवाजाही के लिए विभिन्न प्रकार के साधन होते थे, इसलिए उनका खर्च भी बहुत अधिक होता था। यही नहीं प्रायः हर अमीर के पास बड़े-बड़े हरम होते थे जिसपर बहुत अधिक खर्च आता था। अपना बड़प्पन दिखाने के लिए यह वर्ग बादशाहों की हर मामलों में नक़ल करने का प्रयास करता था। बादशाहों की तर्ज पर ही इनके महल बड़े होते थे जो बागीचो और फब्बारों से घिरे होते थे। अपने खाने-पीने, कपड़े, आभूषण एवं विलासिता आदि पर भी ये लोग बेतहाशा खर्च करते थे। यही नहीं इन अमीरों को समय-समय पर अपनी हैसियत के अनुसार बादशाह को नजराना पेश करना पड़ता था। बदले में बादशाह भी अपने अमीरों को उपहार प्रदान करता था।

मुग़ल मनसबदारों को उनकी सेवा के बदले राज्य की तरफ से अच्छा-खासा वेतन मिलता था। एक पांच हजारी मनसबदार को तीस हजार, तीन हजारी को सत्रह हजार, और एक हजारी को आठ हजार रुपये हर महीने तनख्वाह मिलती थी। अपने एक शोध अध्ययन में प्रोफ़ेसर सतीश चन्द्र ने मुग़ल कालीन रुपये का मूल्य 1996 ई. के रुपये से साठ गुना अधिक बताया हैं। अमीरों को जो भी वेतन मिलता था उसका लगभग आधा हिस्सा जागीर की रख-रखाव में खर्च हो जाता था। बाकी रकम में से वे अपनी विलासितापूर्ण जिंदगी बिताते थे। इतिहासकारों ने अमीरों की इस फिजूलखर्ची के पीछे इस समय के उस क़ानून को उत्तरदायी ठहराया है जिसके अनुसार अमीरों की मृत्यु के पश्चात राज्य द्वारा उनका धन जब्त कर लिया जाता था। हालांकि ऐसे कुछ अपवाद भी मिलते हैं जिसमें अमीर अपने पीछे बेशुमार संपत्ति छोड़ गए थे। बहुत से मनसबदारों ने बादशाह द्वारा दी गयी जमीन पर या तो बाग़ लगवाये या फिर मंडियां बनवाईं जिनसे उन्हें क्रय-विक्रय में

आय हो सकती थी। कुछ मनसबदारों ने व्यापारियों को ब्याज पर रुपये भी दिए या कभी-कभी व्यापारियों के नामों से परोक्ष रूप से व्यापार का संचालन किया। या किसी व्यापारी के साथ साझेदारी में कारोबार में हिस्सा लिया। अबुल फजल ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ आईन-ए-अकबरी में मनसबदारों को यह सुझाव दिया है कि 'वे अपना थोड़ा पैसा नफ़ा कमाने के लिए व्यापार में लगाएं और लाभदायक प्रतिष्ठानों में व्यस्त हों।' ऐसे कुछ अमीर दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने अपनी संपत्ति को व्यापार-वाणिज्य में लगाया। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में मनसबदार आसफ खां ने व्यापार-वाणिज्य में अपरिमित रुचि दिखाई और अपने स्तर से अपार संपत्ति अर्जित की। बादशाह औरंगजेब के शासन काल में शाईस्ता खां और अमीर जुमला जैसे अमीरों ने बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक उद्यमों में रुचि ली। मीर जुमला के पास तो जहाज़ों का एक बहुत बड़ा बेड़ा था जिससे उसने फारस, अरब और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये और अपने समय में अपार संपत्ति अर्जित की। वाणिज्य से धन कमाने का लोभ इस स्तर तक पहुँच गया कि औरंगजेब का प्रमुख काजी भी कई व्यापारिक प्रतिष्ठानों का स्वामी था। काजी ने यह जानकारी बादशाह औरंगजेब से छिपाने की चेष्टा भी की थी। लेकिन यहाँ पर जिन नामों का जिक्र किया गया है वे कुल मिला कर अपवादस्वरुप ही थे। मुग़ल काल में अधिकाँश अमीरों की आय का मुख्य स्रोत जमीन ही थी और वे इसी रुचि में खुद को सीमित कर लेते थे।

मुग़लकालीन अमीरों ने परोक्ष रूप से इस समय के आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास में अपना सहयोग प्रदान किया। अमीरों ने बादशाहों की तर्ज पर बड़े-बड़े महल बनवाये। जिससे कई लोगों को रोजगार मिला। इन अमीरों ने बागीचे लगवाने में भी अपनी रुचि प्रदर्शित की। इससे मुग़ल काल में फलों की कई नयी प्रजातियाँ विकसित हुईं एवं जनता में उनकी लोकप्रियता बढ़ी। कुछ अमीरों ने जन कल्याणकारी कार्यों में भी रूचि ली एवं अनेक तालाब, कुएँ, यात्री विश्रामालय, सराय, पुल, और

बागीचे लगवाये एवं मस्जिदें बनवायीं। ध्यातव्य है कि ये अमीर विलासी होते थे। इसी क्रम में अपने मनोरंजन के लिए इन्होने नृत्य-संगीत को भी बढ़ावा दिया। ये लोग अच्छे गायकों एवं नर्तकों को प्रश्रय प्रदान करते थे। यही नहीं कुछ अमीरों ने क्षेत्रीय स्तर के साहित्यकारों को अपने दरबार में संरक्षण प्रदान किया जिससे कि साहित्य को बढ़ावा मिला। इस प्रकार इन अमीरों ने चित्रकारों, संगीतकारों, विद्वानों एवं साहित्यकारों को आश्रय दे कर गंगा-जमुनी तहजीब को बढ़ावा देने में अनचाहे ही अपनी प्रमुख भूमिका निभायी।

2.9 अमीर वर्ग और राजनीति

मुग़ल राजनीति में अमीरों की हमेशा एक प्रमुख भूमिका रही। बादशाह के साथ अमीरों के सम्बन्ध ने राज्य पर गहरा असर डाला। बादशाहों के साथ अमीरों के सम्बन्ध प्रायः मधुर ही होते थे किन्तु कदाचित ऐसे प्रसंग भी हैं जिनमें बादशाहों और अमीर के बीच संबंधों में तनाव आ गए। इससे न केवल राज्य की आतंरिक व्यवस्था कमजोर पड़ी बल्कि एक अराजकता की स्थिति व्याप्त हो गयी। हालांकि बादशाहों ने हमेशा यह कोशिश की कि अमीरों पर उनका पूरा-पूरा नियन्त्रण बना रहे एवं वे उनके सेवक की भूमिका में ही दिखाई पड़े। इसीलिए बादशाह ऐसे कुछ उपाय अपनाते थे जिससे ये अमीर इतने शक्तिशाली न हो सकें जिससे ये कभी उन्हें चुनौती देने की स्थिति में आ सकें।

अकबर के समूचे शासन काल में स्थितियाँ बादशाह के अनुकूल ही रहीं। इस समय शाही निरंकुशता अपने चरम पर दिखाई पड़ती है। अकबर के शासन के प्रारम्भिक चार वर्षों में शासन पर वकील बैरम खां का प्रभुत्व रहा। राज्य के सभी अमीर उसके नियंत्रण में थे। लेकिन अकबर ने जब शासन की बागडोर अपने हाथों में लेने का प्रयास किया बैरम खां ने बगावत कर दिया। अकबर ने सूझ-बूझ से इस बगावत को कुचल दिया। अकबर के शासन के शुरूआती वर्षों में ही अमीर उज्बेगों का एक शक्तिशाली समूह उभर कर सामने आया जिसने 1561 से

1567 ई. के बीच अनेक बार विद्रोह किये। इसी समय मिर्जाओं का विद्रोह भी उभरा जिससे बढ़ावा पा कर अकबर के सौतेले भाई मिर्जा हाकिम ने लाहौर को घेर लिया। अकबर ने उजबेगों और मिर्जाओं के विद्रोहों को कुचलने में सफलता प्राप्त की। अकबर ने अपनी अधीनता स्वीकार करने वाले अमीरों के प्रति उदार रुख अपनाया और उन्हें अपने पक्ष में करने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त अपने समय में अकबर ने ऐसे कुछ प्रयास किये जिससे उसकी स्थिति एक शक्तिशाली और निरंकुश बादशाह के रूप में स्थापित हो गयी। इन प्रयासों में 'महजर की घोषणा', 'तौहीद-ए-इलाही' का प्रवर्तन, तुलादान, झरोखा दर्शन, पाबोस आदि की बड़ी अहम भूमिका थी।

जहाँगीर के काल में कुछ अमीरों ने कमजोर स्थिति का फायदा उठा कर अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्राप्त कर लिया। इसमें नूरजहाँ द्वारा अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए बनाए गए 'नूरजहाँ जून्टा' की प्रमुख भूमिका थी। इस जून्टा में नूरजहाँ के साथ-साथ उसका पिता एतमाद-उद-दौला, भाई आसफ खान और खुर्रम (शाहजहाँ) शामिल थे। इस समय राज दरबार भी दो हिस्सों में बंट गया था। पहला गुट नूरजहाँ का था जबकि दूसरा उसके विरोधियों का गुट था। कभी-कभी मुग़ल बादशाह को किसी महत्वाकांक्षी शाहजादे से चुनौती मिल जाती थी। यह समय अमीरों के लिए असमंजस का होता था कि वे किसका समर्थन करें और किसका विरोध करें। विद्रोही शहजादे के बादशाह बनने पर समर्थक अमीरों की उन्नति के रास्ते खुल जाते थे जबकि विरोधियों के लिए न केवल सारे रास्ते बन्द हो जाते थे बल्कि उनकी जान के भी लाले पद जाते थे। जहाँगीर के समय उसके दोनो पुत्रों खुसरो और खुर्रम (शाहजहाँ) ने विद्रोह किये। जहांगीर ने इन विद्रोहों का दमन कर दिया। शाहजहाँ की बगावत में तो उसके ससुर आसफ खान, जिसे बादशाह जहांगीर ने मुग़ल राज्य का अमीर नियुक्त किया था, और अनेक अमीरों ने सहयोग किया था। जहांगीर की मौत के बाद शाहजहाँ को गद्दी पर बिठाने में उसके ससुर आसफ खान ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

शाहजहाँ के शासन काल में अमीर वर्गों की गुटबंदी लगभग नहीं दिखाई पड़ती। लेकिन अपने शासन काल के अंतिम वर्षों में शाहजहाँ को अपने पुत्रों के बीच उत्तराधिकार के लिए भयावह आपसी टकराहट देखनी पड़ी। संघर्ष शुरू होते ही शाहजहाँ के सभी पुत्रों ने अपना समर्थन जुटाने का जी-तोड़ प्रयास किया। इस क्रम में शाहजादों ने विभिन्न अमीरों को अपने पक्ष करने के लिए तरह-तरह के वादे किये, प्रलोभन दिए और संबंधों का हवाला दिया। हरेक शाहजादे के गुट में हर वर्ग, वंश और धर्म के अमीर शामिल थे। उत्तराधिकार का यह युद्ध मुग़ल वंश के लिए दूरगामी तौर पर घातक साबित हुआ और इसने यह अच्छी तरह से सुनिश्चित कर दिया आगे आने वाले दिनों में अब प्रमुख भूमिका बादशाह नहीं अपितु अमीर निभायेंगे और बादशाहों को उनके इशारों पर ही चलना होगा।

औरंगजेब ने अपने शासन के प्रारम्भिक दिनों में राजपूत राजाओं को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया और वह इसमें सफल भी रहा। लेकिन आगे चल कर राजपूत राजाओं से उसके सम्बन्ध कटु हो गए। इसी के परिणामस्वरुप 1679-80 में राठौड़ों और सिसौदिया राजपूतों ने उसके खिलाफ विद्रोह कर दिया। हालांकि कुछ राजपूत सरदार मसलन कछवाहे, भाटी और बीकानेर के राठौड़ औरंगजेब के प्रति वफादार बने रहे। औरंगजेब 1682 से 1707 ई. यानी अपनी मृत्यु तक दक्कन अभियान में लगा रहा। राजधानी दिल्ली में बादशाह की अनुपस्थिति में अमीरों के बीच वैमनस्य, प्रतिस्पर्धा एवं गुटबन्दी बढ़ती चली गयी। 'खानाजाद' जैसे पुराने अमीर वर्ग को मुग़लिया अमीर वर्ग में दक्कनी अमीरों का प्रवेश बिलकुल नहीं सुहाया और इसे वे अपने लिए अभिशाप मानने लगे। इससे दोनों वर्गों में आपसी ईर्ष्या, द्वेष एवं प्रतिद्वंदिता बढ़ी। जुल्फिकार खान, गाजीउद्दीन खां फीरोज जंग जैसे अमीरों के नेतृत्व में अमीरों के बीच गुटबन्दी बढ़ती चली गयी।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके तीनों पुत्रों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष हुआ जिसमें बहादुर शाह विजयी हुआ। अपने समय में बहादुर

शाह ने अंधाधुंध जागीरें बांटी और पदों में इजाफे किये जिससे जागीरदारी प्रथा की स्थिति और बदतर हो गयी। इसकी मृत्यु के पश्चात अब अमीरों ने यह निर्धारित करना शुरु किया कि मुग़ल गद्दी का हकदार कौन होगा। यही नहीं अब अमीरों के बीच दरबार के उच्च पद हथियाने की होड़ भी मच गयी। बहादुर शाह की मृत्यु के बाद उसका एक कम योग्य बेटा जहांदार शाह गद्दी पर बैठा क्योंकि उसका पक्ष इस समय के शक्तिशाली अमीर जुल्फिकार खां ने लिया था। जहांदार शाह के समय जुल्फिकार खां वजीर बन गया और एक तरह से पूरे प्रशासन पर उसका कब्ज़ा हो गया। इसी बीच कुछ अमीरों ने वजीर के खिलाफ बादशाह जहांदार शाह को भड़काया जिससे कि वह स्वयं जुल्फिकार खां के खिलाफ षड्यन्त्र रचने लगा।

सैयद बंधुओं की मदद से फर्रूखशियर ने 1713 ई. में जहांदार शाह को पराजित कर मुग़ल गद्दी पर कब्जा जमा लिया। अब्दुल्ला खां और हुसैन अली खां बारहा नामक सैयद भाईयों का इसके बाद की मुग़ल राजनीति पर पूरा प्रभाव बना रहा और उन्हीं की तूती बोलती रही। यद्यपि फर्रूखशियर ने सैयद बंधुओं से छुटकारा पाने के अनेक प्रयास किये किन्तु वह असफल रहा। अंततः 1719 ई. में सैयद बंधुओं ने फर्रूखशियर को गद्दी से उतार कर उसका क़त्ल करा दिया। इसके बाद दो युवा शाहजादे मुग़ल गद्दी पर बैठे लेकिन ये दोनों क्षय रोग से चल बसे। अब सैयद बंधुओं ने आठ वर्षीय मुहम्मद शाह को मुग़ल बादशाह बनाया। ये सभी सैयद बंधुओं के हाथों की कठपुतली बने रहे। इस तरह 1713 से 1720 ई. तक मुग़ल राज्य की समस्त प्रशासनिक शक्तियों पर सैयद बंधुओं का कब्ज़ा बना रहा।

निजामुलमुल्क और मुहम्मद अमीर खां के नेतृत्व में अमीरों के एक शक्तिशाली गुट ने अब सैयद बंधुओं का आधिपत्य समाप्त करने की साजिशे शुरू कर दिया और वे अपने मंसूबे में कामयाब भी रहे। मुग़ल राज्य को सैयद बंधुओं से छुटकारा मिला। निजामुल मुल्क 1722 ई. में मुग़ल राज्य का वजीर बना। उसने मुग़ल प्रशासन में सुधार के

प्रयत्न किये लेकिन निकम्मे और अयोग्य मुग़ल बादशाह से कोई मदद न मिलने के कारण और दरबारी झगड़ों और षड्यंत्रों से उब कर निजामुल मुल्क ने 1724 ई. में अपने पद से इस्तीफा दे दिया और दक्षिण की ओर चला गया। वहां पर उसने हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। निजामुल मुल्क की इस सफलता से अन्य अमीरों का भी हौसला बढ़ा और अब अनेक शक्तिशाली अमीरों ने अपने लिए स्वतन्त्र या अर्द्ध स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करना शुरू कर दिया। इसी क्रम में अवध, हैदराबाद, बंगाल और पंजाब में नए राज्यों की नींव पडी। 1739 ई. में नादिर शाह के आक्रमण ने मुग़ल राज्य के खोखलेपन को उजागर कर दिया। 1761 ई. तक आते-आते एक अखिल भारतीय साम्राज्य के रूप में मुग़ल साम्राज्य की अहमियत समाप्त हो गयी और अब मुग़ल शासक केवल दिल्ली का बादशाह बन कर रह गया। इसी के साथ मुग़ल अमीर वर्ग की प्रभावी भूमिका समाप्त हो गयी और भारत के राजनीतिक रंगमंच पर स्वतन्त्र जागीरों के सामंतों और मराठा सरदारों ने अपनी खुली भूमिका निभाना शुरू कर दिया।

2.10 सारांश

इस इकाई में आपने यह विस्तारपूर्वक जाना कि किस प्रकार एक मजबूत नौकरशाही के रूप में मुग़ल उमरा वर्ग का विकास हुआ और मुग़ल राज्य के विकास में किस तरह इसने अनेक महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभायीं। आपने यह भी जाना कि इस उमरा वर्ग में विभिन्न क्षेत्रों, प्रजातियों, धर्मों और भाषाओं के लोग शामिल थे और इस तरह एक राष्ट्रीय स्तर की सुव्यवस्थित नौकरशाही प्रणाली की नींव पडी। मुग़ल बादशाहों ने इन पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए और इन्हें अपना प्रतिद्वंदी न बनने देने के लिए कई नियम बनाए जिससे शासक और नौकरशाही के मध्य एक स्वस्थ सम्बन्ध विकसित हुआ। जब तक मुग़ल बादशाह शक्तिशाली बने रहे यह नौकरशाही अपनी सीमाओं में रहते हुए राज्य की पूरे मनोयोग से सेवा करती रही लेकिन जैसे ही बादशाह कमजोर पड़े यह उमरा वर्ग शासन पर हावी होता चला गया जिससे कि

अंततः राज्य कमजोर पड़ता चला गया। इसी इकाई में आपने यह भी जाना कि इस उमरा वर्ग ने परोक्ष रूप से कला, साहित्य, संस्कृति एवं अर्थव्यवस्था को भी बढ़ावा देने का काम किया जिससे भारत की उस गंगा-जमुनी संस्कृति का विकास हुआ जिस पर हम आज भी गर्व करते नहीं अघाते।

2.11 बोध प्रश्न

1. सामान्य तौर पर उमरा वर्ग में किस तरह के मनसबदार शामिल होते थे?

   अ). पाँच सौ या इससे अधिक के मनसब वाले अमीर

   ब). एक हजार या इससे अधिक मनसब वाले अमीर

   स). पांच हजार या इससे अधिक मनसब वाले अमीर

   द). सात हजार या इससे अधिक मनसब वाले अमीर

2. पहली बार किस बादशाह ने भारतीय मुसलमानों को उमरा वर्ग में शामिल किया?

   अ). बाबर ने

   ब). हुमायूं ने

   स). अकबर ने

   द). जहांगीर ने

3. उमरा वर्ग के लिए निम्नलिखित में से क्या जरूरी नहीं था?

   अ). वह बादशाह को नजराना पेश करे।

   ब). वह आजीवन सपरिवार मुग़ल राज्य में रहे।

   स). वह समय-समय पर शाही दरबार में हाजिरी लगाता रहे।

   द). वह किसी विद्रोही राज्य को मदद प्रदान न करे।

4. मुग़ल उमरा वर्ग के संगठन पर प्रकाश डालिए?

5. जब तक मुग़ल बादशाह शक्तिशाली रहे उमरा उनके सेवक बने रहे। लेकिन जब मुग़ल बादशाहत कमजोर पडी उमरा उनके स्वामी बनने का प्रयास करने लगे।' अपने तर्कों के द्वारा इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करिए।

2.12 शब्दावली

उमरा- यह शब्द यह सामान्य तौर पर उन सभी अधिकारियों के लिए प्रयुक्त किया जाता था जो एक हजार या उससे अधिक के मनसब के अधिकारी थे।

इनाम- वह क्षेत्र जो किसी से प्रसन्न हो कर अथवा पुरस्कार रूप में उसे प्रदान किया गया हो।

जागीर- वह क्षेत्र जिसका भू-राजस्व बादशाह द्वारा किसी व्यक्ति को उसकी सेवाओं के बदले वेतन के रूप में दिया गया हो।

जागीरदार- जागीर का स्वामी

तगीरी :

जात- मनसबदार का व्यक्तिगत पद जो उसकी पदवी को निश्चित करता था।

तलब-ए-ख़ास- जात पद की वेतन के लिए मांग।

तलब-ए-ताबीनान- सवार पद की वेतन के लिए मांग।

दाग- अधिकारियों एवं मनसबदारों द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों, हाथियों को पहचान के लिए दागे जाने की व्यवस्था

मनसब- वह पद जो मुग़ल दरबार में किसी अमीर की पद-स्थिति को निर्धारित करता था। इसी पद के आधार पर अमीर के वेतन का निर्धारण होता था।

मनसबदार- मनसब को धारण करने वाला अमीर।

सूबा- प्रांत

2.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

(1). ब, (2). स, (3). स

2.14 इस खण्ड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अजीज, अब्दुल, द मनसब सिस्टम एंड द मुग़ल आर्मी, दिल्ली, 1972
2. फजल, अबुल; आईन-ए-अकबरी
3. फारूकी, ए. के. एम., रोड्स एंड कम्यूनिकेशन इन मुग़ल इण्डिया, दिल्ली, 1977
4. हबीब, इरफ़ान; द टेक्नोलोजी एंड इकोनोमी ऑफ़ मुग़ल इण्डिया, आई. ई. एस. एच. आर., भाग-17, 1980; जमींदार्स इन द आईन, पी. आई. एच. आर., त्रिवेन्द्रम अधिवेशन, 1958.
5. मजूमदार, रमेश चन्द्र, हेमचन्द्र राय चौधरी, कालिकिंकर दत्त; भारत का वृहद् इतिहास, भाग-दो, मैकमिलन, दिल्ली, 1954
6. प्रसाद, बेनी; हिस्ट्री ऑफ़ जहाँगीर, इलाहाबाद, 1976
7. राधेश्याम, मध्यकालीन प्रशासन समाज एवं संस्कृति, इलाहाबाद, 1993
8. सक्सेना, बनारसी प्रसाद: हिस्ट्री ऑफ़ शाहजहाँ ऑफ़ देलही, इलाहाबाद, 1962
9. शर्मा, एल. पी.; मध्यकालीन भारत, आगरा, 1975
10. स्मिथ, विसेंट: अकबर दि ग्रेट मुग़ल, दिल्ली, 1962
11. श्रीवास्तव, ए. एल.; अकबर द ग्रेट मुग़ल (तीन भाग में); द मुग़ल एम्पायर (1526-1803); मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
12. वर्मा, हरिश्चन्द्र (संपा.), मध्यकालीन भारत खंड-2 (1540-

1761ई.), दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993

13. खां, इक्तिदार आलम, द नोबिलिटी अंडर अकबर एंड द डेवलेपमेंट ऑफ़ हिज रीलिजियस पालिसी, जनरल ऑफ़ द रॉयल एशियाटिक सोसाईटी, लन्दन, 1968
14. हुसैन, अफजल, ग्रोथ ऑफ़ ईरानी एलिमेंट इन अकबर्स नोबिलिटी, इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1975
15. अली, एम.अतहर अली, द मुग़ल नोबिलिटी अंडर औरंगजेब, मुम्बई, 1970
16. चन्द्र, सतीश, पार्टीज एंड पालिटिक्स ऐट द मुग़ल कोर्ट 1707-1740, अलीगढ़, 1959; मध्यकालीन भारत, नयी दिल्ली, 1982
17. गोपाल, लल्लन जी, इकोनोमिक लाईफ ऑफ़ नोर्दर्न इण्डिया, 700-1200, दिल्ली, 1965
18. हसन, सैयद नुरुल, जमीदार्स अंडर द मुगल्स, **लैण्ड कंट्रोल एंड सोशल स्ट्रक्चर इन इन्डियन हिस्ट्री**, (संपा.) एल. ई. फ्रैन्केनवर्ग, लन्दन, 1969.

इकाई-3

मुग़ल स्थापत्य कला

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

विभिन्न मुग़ल बादशाहों के काल में स्थापत्यकला

(1). बाबर

(2). हुमायूं

(3). अकबर

(4). जहांगीर

(5). शाहजहाँ

(6). औरंगजेब

3.2 सारांश

3.3 बोध प्रश्न

3.4 शब्दावली

3.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.6 इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि

मुग़ल स्थापत्य कला के विकास में कौन से तत्व सहायक थे?

मुग़ल स्थापत्य कला का विकास किस प्रकार हुआ?

विभिन्न मुग़ल बादशाहों के समय कौन से प्रमुख निर्माण कार्य हुए?

मुग़ल स्थापत्य कला की विशेषताएं क्या हैं?

3.1 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास के प्राचीन काल में गुप्त काल अपनी कला एवं संस्कृति के विकास के लिए जाना जाता है। इस समय कला के क्षेत्र में चहुंमुखी प्रगति हुई। एक लम्बे अरसे पश्चात मुग़ल काल में हमें कला एवं संस्कृति का चहुँमुखी विकास दिखाई पड़ता है। कला के क्षेत्र में मुग़ल काल में स्थापत्य कला का समुचित विकास हुआ। इस काल में ऐसे भवन, इमारतें एवं किले आदि बनवाए गए जो आज भारत की पहचान के साथ अभिन्न रूप से जुड़ गए हैं। हर वर्ष स्वतन्त्रता दिवस पर भारतीय प्रधानमन्त्री दिल्ली में लाल किले पर राष्ट्रीय ध्वज फहराते हैं। ताजमहल आज दुनिया के महान मध्यकालीन आश्चर्यों में शुमार किया जाता है और भारत आने वाला शायद ही ऐसा कोई विदेशी पर्यटक हो जो ताजमहल देखने आगरा न आता हो। इस इकाई के अन्तर्गत हम मुग़ल कालीन स्थापत्य कला के विकास पर दृष्टिपात करेंगे और यह जानने का प्रयास करेंगे कि वे कौन से कारक थे जिससे मुग़ल बादशाह अपने समय में स्थापत्य कला के विकास पर पर्याप्त ध्यान दे सके।

3.2 मुग़ल स्थापत्य कला की पृष्ठभूमि

चौदहवीं एवं पंद्रहवीं सदी में भारत में सल्तनत काल जब अपने विकास के चरम पर था, भारत के विभिन्न भागों में कला एवं संस्कृति का अपूर्व विकास हुआ। बाबर ने भारत में जब मुग़ल वंश की नींव रखी तब उसके सामने कला की एक समृद्ध विरासत थी। भारत की यह खुशनसीबी थी कि बाबर स्वयं सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत जागरूक था। भारत में उसे तुर्क एवं अफगान शासकों द्वारा बनवाई गयी इमारतें पसंद नहीं आयी थीं जबकि 'मान सिंह और विक्रमाजीत के सभी महल उसने घूम-घूम कर देखे जो अलग-अलग जगह पर बिना किसी निश्चित योजना के बने होने पर भी उसे आकर्षक लगे थे।' ग्वालियर के महल के स्थापत्य पर भी वह बहुत मुग्ध था और जब उसने अपने लिए महल

बनवाने की योजना बनवाई तो इसे आदर्श के तौर पर सामने रखा। बाबर का इरादा था कि भारतीय शिल्पकारों के साथ मिलकर काम करने के लिए वह कांस्टेंटिनोपल से सुप्रसिद्ध अल्बानियन कलाकार सिनान के शिष्यों को भारत आने के लिए आमंत्रित करे। यह अलग बात है कि किसी वजह से बाबर को अपना इस इरादे को तिलांजलि देनी पड़ी। बाबर के समय की आज केवल दो इमारतें बची हैं। ये हैं- पानीपत के काबुली बाग़ की विशाल मस्जिद और रूहेलखंड में संभल की जामी मस्जिद। ये दोनों इमारतें १५२९ ई. में बनवाई गयीं थीं। इन इमारतों में विशालता के अलावा और कोई शिल्प-सौन्दर्य नहीं दिखायी पड़ता। उसके काल की एक तीसरी इमारत अयोध्या में थी जिसे 1992 ई. में साम्प्रदायिक तत्वों द्वारा ध्वस्त कर दिया गया। इस मस्जिद को अब्दुल बाकी ने बाबर के निर्देश पर अयोध्या में बनवाया था। बाबरनामा में बाबर इस बात का जिक्र करता है कि उसने 'आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर और कोइल (अलीगढ़) की इमारतों में कई सौ काम करने वाले लगाए थे।' ऐसा लगता है कि बाबर ने इन जगहों पर स्नानागार, कुँए, तालाब और फब्बारे बनवाये थे।

3.3 हुमायूं के समय मुग़ल स्थापत्य कला:

अपने पिता की तरह हुमायूँ भी ललित कला में बहुत अभिरूचि रखता था। किन्तु आजीवन संघर्षरत रहने के कारण वह अपनी कलात्मक अभिरूचियों को उस स्तर पर मूर्त रूप नहीं दे पाया जैसा उसने अपने मानस में इसका एक खाका खींच रखा था। कुल मिला कर उसकी दो इमारतें हमें प्राप्त होती हैं। आगरा और हिसार के फतेहाबाद में उसने दो मस्जिदें बनवाईं। ये अब खंडहर के रूप में ही बची हैं और इनमें भी कोई ख़ास शिल्पगत विशिष्टता नहीं दिखाई पड़ती। हुमायूं ने 1533 ई. दिल्ली एक नए नगर की नींव डाली जिसका नाम 'दीनपनाह' (धर्म का शरणस्थल) रखा गया। इस नगर की दीवारें रोड़ी की बनी हुई थीं। और सामान्य भवनों को महलों के रूप में ढालने का प्रयास किया गया था। हुमायूं द्वारा स्थापित किये गए नगर को आज हम पुराने किले के नाम

से जानते हैं।

हुमायूँ ने मुग़ल स्थापत्य कला पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव तो नहीं छोड़ा लेकिन कुछ परोक्ष प्रभाव अवश्य डाला। दीनपनाह के ठीक बाहर बनवाया गया हुमायूँ का मकबरा ऐसी इमारत है जिसने मुग़ल स्थापत्य कला को एक नई दिशा प्रदान की। हुमायूं की पत्नी हाजी बेग़म की देख-रेख में 1564 ई. में इसका निर्माण आरम्भ कराया गया। इस मकबरे का खाका हाजी बेगम के के मुख्य वास्तुकार फारस के मलिक मिर्जा गियास ने बनाया। यह अष्टभुजीय संरचना है जिसके बीच में एक हाल और चारो ओर चार कक्ष हैं। इसका गुम्बद पूरी तरह सफ़ेद संगमरमर का बना है और शिखर को धातु स्तूपिका का रूप दिया गया है। शेष इमारत में सफ़ेद और काले संगमरमर के साथ-साथ लाल-बलुआ पत्थर का इस्तेमाल किया गया है। पूरी इमारत 22 फीट ऊँची मेहराबदार चौकी के ऊपर बनी है। मकबरे के चारों और बाग़ है जिसमें आयताकार और चौकोर क्यारियाँ बनी हैं। इनसे होकर ही मकबरे में जाने के लिए मुख्य मार्ग बनाया गया है। इस मकबरे की प्रशंसा करते हुए प्रख्यात कलाविद पर्सी ब्राउन लिखते हैं -'इस इमारत की शिल्प कला के लिए संभवतः उत्तम परिभाषा यह होगी कि यह फ़ारसी आदर्श की अभिव्यक्ति है, क्योंकि इसकी रचना में बहुत कुछ भारतीय स्वदेशी तत्त्व है। साथ ही बहुत कुछ ऐसा भी है जिसे फ़ारसी शैली की प्रेरणा का फल कहा जा सकता है। तब तक फारस के सिवा और कहीं इस प्रकार की रचना और आकृति का गुम्बद नहीं था। केवल उसी देश की इमारतों में मेहराबयुक्त ऐसे मंडप बनाए जाते थे जो अग्र भाग को इस प्रकार का रूप प्रदान करते थे। वहां भी केवल शाही कब्रों पर बनी इमारतों में ही ऐसी आतंरिक बनावट तथा कमरों और दालानों की ऐसी व्यवस्था देखी जाती है। दूसरी ओर केवल भारत में ही सुन्दर छतरियों वाले ऐसे कलात्मक मंडप की रचना की जा सकती है। इसके अलावा यह भारतीय शिल्पकारों का ही कौशल है जिन्होंने पत्थर और चिनाई के मेल से उत्तम संगमरमर पर ऐसा कलात्मक शिल्प तैयार कर दिया है।' भारतीय और फ़ारसी शैली

के जिस सम्मिश्रण की शुरुआत इस समय हुमायूँ के मकबरे से हुई उसकी चरम परिणति आगे चल कर ताजमहल के निर्माण में अपने परिपक्व रूप में दिखाई पड़ती है।

अकबर के समय मुग़ल स्थापत्य कला:

मुग़ल बादशाहों में अकबर एक स्वप्नदर्शी सम्राट था। उसने हिन्दू और मुसलमान संस्कृति को एकाकार कर इसे एक नया रूप देने की कोशिश की जो उसकी स्थापत्य योजना से लेकर धार्मिक अवधारणाओं तक में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। अकबरी इमारतों में ईराकी और भारतीय स्थापत्य कला के तत्वों का बेहतरीन समावेश है। अकबर ने लम्बे समय तक शासन किया अतः उसके पास निर्माण कराने के लिए समय और साधन दोनों उपलब्ध थे। ऐसे में उसने एक-एक कर अपने सपनों को मूर्त रूप देने का क्रम शुरू किया। अकबर ने कला को अपने समय में जो संरक्षण प्रदान किया और स्वयं आगे बढ़ कर इसमें दिलचस्पी लिया उससे इस काल में एक से बढ़ कर एक इमारतें तैयार हुईं। इस अर्थ में अबुल फजल का कथन युक्तिसंगत लगता है कि - 'सम्राट सुन्दर इमारतों की योजना बनाता है और अपने मष्तिष्क एवं हृद्य के विचार को पत्थर और गारे का रूप दे देता है।' इसीलिए उसके द्वारा बनवाये गए भवनों में उसके व्यक्तित्व की छाप है। उसने तत्कालीन कला शैलियों की बारीकी को समझा और अपने कलाकारों को नई नई इमारतें बनानें का विचार दिया इस क्रम में उसके आदेशों पर आगरा, फतेहपुर सीकरी, लाहौर, अटक तथा इलाहाबाद आदि स्थानों पर अनेक इमारतें बनीं। कलाविद फर्ग्यूसन के अनुसार 'अकबर के काल में स्थापत्य कला की जो शैली विकसित हुई वह वास्तव में हिन्दू और मुस्लिम शैलियों का समन्वय है।' जिसे भारत की राष्ट्रीय स्थापत्य कला शैली का नाम भी दिया जाता है।

अकबर के काल में निर्मित इमारतों में अधिकतर लाल पत्थर और संगमरमर का उपयोग किया गया है। उसने अपने राज्य की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए मजबूत किलों के निर्माण पर भी ध्यान दिया।

इसी के मद्देनजर उसने आगरा, लाहौर और इलाहाबाद के किलों का निर्माण भी कराया।

आगरा का किला:

लोदी वंश के शासक सिकन्दरशाह लोदी ने आगरा में ईंटों का एक किला बनवाया था। अकबर ने इसी जगह किले के पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया। इस प्रकार आगरे का लाल किला अकबर द्वारा निर्मित पहली प्रमुख इमारत थी जो वस्तुतः शाही महल था। इसके निर्माण में अकबर ने बहुतायत में उपलब्ध रेतीले लाल पत्थर को सामग्री के रूप में इस्तेमाल कराया। किले के अन्दर बहुत सी ईमारतें भी बनवाई गयीं जिनकी संख्या अबुल फजल के अनुसार लगभग 500 थी। किले का निर्माण अकबर के प्रधान कारीगर कासिम खां की देख-रेख में 1565 ई. में शुरू किया गया। इसमें तीन-चार हजार कुशल कारीगरों ने पंद्रह वर्षों तक रोक काम किया था। उस समय इसके निर्माण में पैंतीस लाख रुपये खर्च हुए थे। यह लगभग डेढ़ मील के दायरे में बना है। लाल गढ़े हुए पत्थरों से बनी इसकी दीवारें लगभग सत्तर फुट ऊँची हैं।

बाहरी दीवारें ऊँची होने के साथ-साथ मोटी और कंगूरों तथा ढलवां छिद्रों से युक्त बनाईं गयीं जिससे ये सामरिक दृष्टि से अभेद्य बन जाए। इसमें मूलतः चार द्वार बनाए गए। दिल्ली द्वार जो पश्चिमी दिशा में बना था और अमर सिंह द्वार, जो छोटा है और निजी उपयोग के लिए बनाया गया, अब भी बचे हुए हैं। बाकी दो दरवाजों को बाद में दीवार उठवा कर बन्द करा दिया गया। दिल्ली दरवाजे से प्रवेश कर भीतरी प्रवेश द्वार 'हाथी-पोल' पर पहुँचा जाता है। हाथी पोल दरवाजे के दोनों तरफ पत्थर के दो हाथी महावत सहित बने हुए थे। बाद में औरंगजेब ने इन हाथियों को तोड़वा दिया था। प्रख्यात कलाविद पर्सी ब्राउन दिल्ली दरवाजे की तारीफ़ करते हुए कहते हैं - 'निःसंदेह ही यह भारत के सर्वाधिक प्रभावशाली दरवाजों में से है।' इसके मुख्य प्रवेश द्वार जो मेहराबी है, पर दोनों तरफ दो बुर्ज हैं, लेकिन जिस कुशलता से यह योजना कार्यान्वित की गयी है, वही इसे प्रभावशाली के साथ-

साथ कलात्मक रूप दे देती है। किले के द्वार तक पहुँचने के लिए एक पुल से जाना पड़ता है क्योंकि दुर्ग के इर्द-गिर्द चारो तरफ खाई है। सुरक्षा की दृष्टि से पहले इसमें हमेशा पानी भरा रहता था। आज किले में प्रवेश करने के लिए अमर सिंह दरवाजे का इस्तेमाल किया जाता है।

किले के अंदर पाँच सौ से अधिक भवनों का लाल पत्थरों से निर्माण कराया गया था। ये भवन बंगाल एवं गुजरात की शिलियों में निर्मित कराये गए जिससे इनका आकर्षण बढ़ जाता है। बाद में इनमें से अधिकाँश इमारतों को शाहजहाँ ने गिरवा कर उनके स्थान पर सफ़ेद संगमरमर की इमारतें बनवा दीं। इनमें से कुछ आज भी किले के दक्षिण-पूर्वी कोने में बची हुई हैं जो अकबर की प्रारम्भिक कृतियों का प्रतिनिधित्व करती दिखाई पड़ती हैं।

जहाँगीरी महल:

किले के अंदर की इमारतों में जहाँगीरी महल एक उत्कृष्ट कृति है जो आज भी सुरक्षित है। ऐसा लगता है कि अकबर द्वारा इसका निर्माण शाहजादा जहाँगीर के लिए कराये जाने के कारण इसका नाम 'जहाँगीरी महल' पड़ गया। अकबर के बाद जहांगीर इसमें निवास करने लगा इसलिए इसका यह नाम चर्चित हो गया। प्रोफ़ेसर राधेश्याम के अनुसार वस्तुतः यह अकबर का हरम था। यह महल लगभग वर्गाकार है। इसकी लम्बाई 249 फूट जबकि चौडाई 260 फुट है। इसके चारों कोनो पर चार बड़ी छतरियां हैं। अन्दर एक विशाल आँगन है जिसके चारो ओर कमरे, हाल और वीथिकाएँ हैं। लाल पत्थर से निर्मित यह इमारत आलंकारिक बन पड़ी है। इसके दोनों ओर दो अट्टालिकाएँ हैं जो छतरियों से युक्त बड़ी सुन्दर हैं। खम्भे,तोड़े, छज्जे और छतरियों का व्यापक प्रयोग हंस, हाथी, तोते, मोर, और मकर की आकृतियाँ इस इमारत के प्रमुख आकर्षण हैं। इस महल की रचना पूर्णरूपेण हिन्दू है। इसमें बीम और ब्रेकेट आधारित शैली को अपनाया गया है। इसकी छतें डाटदार न होकर पटी हुईं हैं। इसमें जहां तक हो सका है मेहराबों से बचा गया है और जहां मेहराबें हैं वहां उन्हें सिर्फ सजावट के लिए ही

बनाया गया है।

जहांगीरी महल के सामने के लान में जहाँगीर द्वारा 1611 में बनवाया गया एक पत्थर का हौज है। हरे-हरे से काले पत्थर के एक ही ढोके को काट कर बनाया गया हौज एक ख़ूबसूरत प्याले की शक्ल का लगता है। यह 5 फुट ऊँचा और चार फुट गहरा है। इसका इस्तेमाल नहाने के लिए किया जाता था। यह बहुत ही कलात्मक बन पडा है। इस हौज की बाहरी सतह पर फ़ारसी में आयतें खुदी हुई हैं जिनकी अंतिम पंक्ति से यह पता चलता है कि इसका निर्माण 1019 हिजरी में किया गया था। जहाँगीरी महल के ठीक दक्षिण में उसके बराबर में ही अकबरी महल है। अकबरी महल का मुख्य भाग ध्वस्त हो गया है फिर भी इसकी योजना समझ में आ जाती है। इसका निर्माण जहाँगीरी महल से कुछ वर्ष पूर्व कराया गया। जहाँगीरी महल की अधिक सजावटपूर्ण रचना की अपेक्षा इसकी बनावट कुछ भद्दी और भोड़ी सी है।

फतेहपुर सीकरी की इमारतें:

अकबर 1569 ई. में एक मुस्लिम संत शेख सलीम चिश्ती के दर्शनों के लिए सीकरी नामक गाँव में गया। यह गाँव आगरा से तेइस मील पश्चिम दिशा में अवस्थित था। शेख सलीम की दुवाओं से अकबर को 30 अगस्त 1569 ई. को पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। जिसका नाम शेख सलीम के नाम पर सलीम रख दिया गया। सलीम को उसके जन्म के कुछ दिनों बाद ही शेख के आश्रम में भेज दिया गया। सीकरी को अपने लिए सौभाग्यपूर्ण मानते हुए अकबर ने इसे बड़े नगर में परिवर्तित करने का निश्चय किया। जहांगीर अपनी आत्मकथा में लिखता है - 'मेरे श्रद्धेय पिता ने सीकरी गाँव को, जो कि मेरा जन्मस्थल था, अपने लिए सौभाग्यपूर्ण समझ कर, उसे अपनी राजधानी बना लिया। चौदह-पंद्रह वर्षों में जंगली जानवरों से भरी हुई यह पहाडी सभी प्रकार के बाग़-बगीचों, इमारतों, ऊँची शानदार अट्टालिकाओं तथा ह्रदय को प्रिय लगने वाले महलों से युक्त नगरी बन गयी।'(तुजुके-जहाँगीरी, रोजर बेवर कृत अनुवाद, भाग-एक, पृष्ठ-2) । 1569 से 1585 ई. तक यही सीकरी

शाही नगर बना रहा। नए राजधानी नगर का निर्माण 1569 में आरम्भ करके पंद्रह वर्षों में पूरा कर लिया गया। गुजरात विजय के पश्चात इसका नाम फतेहपुर कर दिया गया, जिसे अब हम फतेहपुर सीकरी नाम से जानते हैं। कलाविद मुल्कराज आनन्द लिखते हैं -'इमारतों का पूरा समूह जिसमें निजी महल, निवास, शाही मकानात, बड़ी मस्जिद के अलावा विशाल प्रवेश द्वार भी शामिल है, विश्व स्थापत्य कला के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।' इसी समय भारत की यात्रा पर आये यूरोपीय यात्री फादर मांसरेट ने सीकरी को बनते हुए अपनी आँखों से देखा था। अपने विवरण में फादर लिखते हैं- 'बतायी हुई सामग्री पूरी तरह तैयार कर के ही उस स्थान पर लायी जाती थी जहां उसे लगाना होता था।' इस प्रकार 14-15 वर्षों में अनेक सुन्दर एवं शानदार इमारतों का एक नगर बन कर तैयार हो गया। 1585 ई. के बाद सम्राट को उजबेग आक्रमण का सामना करने के लिए लाहौर जाना पड़ा। इसके बाद अकबर कभी-कभार ही सीकरी आ पाता था।

फतेहपुर सीकरी नगर को एक ऊँची पहाड़ी पर बसाया गया जो दो मील लम्बी और एक मील चौड़ी थी। इसके तीन तरफ से उबड़-खाबड़ दीवार बनवा दी गयी जबकि चौथी तरफ यानी उत्तर-पश्चिम की ओर कई मील लम्बी चौड़ी एक झील बना दी गयी। दीवार में कुल नौ दरवाजे थे जिसमें से चार महत्वपूर्ण थे। पूर्व की ओर स्थित दरवाजे का नाम 'आगरा-दरवाजा' था जो इसका मुख्य प्रवेश द्वार था। दीवाने-आम, दीवाने-ख़ास, राजकीय कोषागार, शफाखाना (चिकित्सालय), पञ्च-महल, तुर्की सुल्ताना की कोठी, झरोखा-दर्शन, जोधाबाई का महल, हवा महल, बीरबल का महल, मरियम का भवन, जामा मस्जिद, बुलंद दरवाजा, इस्लाम खां का मकबरा, नौमहला, इबादतखाना, जनानाबाग, मीना बाजार, दफ्तर-खाना, हाकिम का महल, जौहरी बाजार, नौबतखाना, बारादरी, हमाम, लंगरखाना, कबूतरखाना, संगीन-बुर्ज, मैदान-ए-चौगान, मस्जिद-शाहकुली, और राजा टोडरमल का महल सीकरी की प्रमुख इमारतें हैं।

यहाँ स्थित इमारतों में जामी मस्जिद प्रमुख है जिसका निर्माण 1571 ई. में किया गया। इसकी दीवाल पर यह अंकित है कि यह पवित्र स्थल मक्का की अनुकृति है। इसमें एक विशाल आँगन के तीन तरफ खम्भेदार दालान और परम्परानुसार पश्चिम की तरफ किबला (आराधना-भवन) निर्मित है। लाल पत्थर से बनी इस मस्जिद में रंगीन पत्थरों का जडाऊ काम भी मिलता है। मस्जिद की योजना इस्लामी है किन्तु इसके स्तंभों, छतों और कोष्ठकों के प्रयोग में हिन्दू स्थापत्य कला के तत्व भी दृष्टिगत होते हैं। इसी मस्जिद के दक्षिणी द्वार के रूप में 1601 ई. में दक्षिण भारत की विजय के स्मारक के रूप में मशहूर बुलन्द दरवाजा बनवाया गया। यह भारत का सर्वाधिक ऊँचा एवं प्रभावशाली प्रवेश द्वार है। इसकी ऊँचाई 176 फुट है। यह एक चबूतरे पर निर्मित है जिसकी ऊँचाई 42 फुट है। चबूतरे से दरवाजे की ऊँचाई 134 फुट है। यह दरवाजा अपने-आप में एक पूर्ण एवं भव्य इमारत है जिसमें एक विशाल मेहराब है तथा उसके ऊपर सुन्दर छतरियां हैं। इसके किनारे के दोनों भाग तीन मंजिले हैं जिनमें खिड़कियाँ बनी हैं। यह भव्य दरवाजा अकबर की महानता एवं उसके शानो-शौकत को पूरी तरह प्रतिबिंबित करता है। कलाविद मुल्कराज आनन्द इसके बारे में लिखते हैं- 'यह लम्बमान वास्तुशिल्प की शौर्यपूर्ण भव्यता का आभास सहित, गगनचुम्बी हो कर अपनी श्रेष्ठ शोभा, सुलेख और उत्कीर्ण बेल-बूटों के सहारे दर्शकों को सन्देश देता हुआ सा लगता है। बादशाह अकबर ने इस पर एक सन्देश खुदवा दिया - 'मेरी के पुत्र जीसस ने कहा, यह संसार सेतु है, इसे पार करो किन्तु इस पर घर न बनाओ। जो एक घड़ी समय की आशा रखता है वह अनंत की आशा रखता है। यह संसार एक घड़ी का है। इसे प्रार्थना में व्यतीत करो क्योंकि इसके बाद क्या होगा यह अज्ञात है।'

जामी मस्जिद के आँगन में ही उत्तरी कोने में शेख सलीम चिश्ती का मकबरा है। 1581 ई. में बनवाया गया यह मकबरा पहले तो लाल पत्थरों से बनवाया गया किन्तु बाद में इस पूरी संरचना को संगमरमर

का बना दिया गया। मकबरा वर्गाकार है और दक्षिण की तरफ एक मुख-मंडप बना है। वर्गाकार कक्ष में ही शेख सलीम की कब्र है। इसके चारो ओर बरामदा है जो सुन्दर जालियों से सुसज्जित है। कक्ष के ऊपर एक गुम्बद है। सज्जा के लिए इसमें स्तंभों, छज्जों और कोष्ठकों का प्रयोग किया गया है। इन तत्वों के आधार पर कलाविद पर्सी ब्राउन ने कहा है- 'इसकी स्थापत्य कला-शैली इस्लाम की बौद्धिकता एवं गाम्भीर्य की अपेक्षा मंदिर के निर्माता की स्वतन्त्र कल्पना का परिचय देती है।' इस मकबरे का आतंरिक भाग सुन्दर जालियों, दीवालों एवं अलंकृत फर्श से सुसज्जित है।

जोधाबाई का महल सीकरी की सर्वाधिक विशाल इमारत है। यह आयताकार इमारत (320x215x12 फुट) है। इसके निर्माण में कोष्ठकों जैसे विशुद्ध भारतीय शैली के प्रयोग के मद्देनजर कलाविद पर्सी ब्राउन महोदय ने अनुमान लगाया है कि 'इसका निर्माण कार्य गुजरात के स्थपतियों ने किया होगा।' जोधाबाई के महल के उत्तर में दुमंजिली इमारत हवामहल स्थित है। यह पूरी तरह हवादार जालियों से युक्त महल है एवं निर्मिती में अपने नाम को सार्थक करता है। जोधाबाई महल के निकट ही एक और दोमंजिली इमारत 'मरियम का भवन' है। इसकी दीवार पर सुन्दर चित्रकारी की गयी है। इन पर चित्रित दृश्य शिकार, खेल, हाथियों के युद्ध, जुलूस, परियों, पशुओं, मानवाकृतियों और हिन्दू देवी-देवताओं के हैं। इन चित्रों के कारण ही इसे अकबर का रंगीन महल या चित्रालय भी कहा जाता है। इसके ठीक उत्तर-पूर्व दिशा में सिर्फ खम्भों पर आधारित पञ्चमंजिली इमारत 'पञ्च महल' है। भू-तल पर इसमें 84 खम्भे हैं। हर मंजिल अपने नीचे की मंजिल से क्रमशः छोटी होती गयी है। एक मंजिल से दूसरी मंजिल में जाने के लिए सीढ़ियों का निर्माण किया गया है। प्रत्येक मंजिल के स्तम्भ योजनाबद्ध रूप से बड़े हैं। इन स्तंभों पर उभरी हुई घंटियाँ, पुष्प-पत्तियों सहित कलश, रुद्राक्ष मालाएँ आदि उत्कीर्ण है। इसकी सबसे ऊपर वाली मंजिल पर चार स्तंभों पर टिका एक गुम्बद्युक्त मंडप बना है। इसके

सामने एक छोटा वर्गाकार कमरा है। इसकी दीवालों में चारों ओर आले बने हुए हैं। इसे 'तुर्की सुल्ताना की कोठी' भी कहा जाता है। तुर्की सुल्ताना या तो हिंदाल की पुत्री रुकिया बेगम थी या बैरम खां की विधवा रुकिया बेगम थी जिससे अकबर ने विवाह कर लिया था। इसके निवास के लिए ही यह एकमंजिली कोठी तैयार कराई गयी जिसमें स्ताम्भ्युक्त बरामदे हैं। इसका भीतरी भाग सज्जा युक्त है। इसी कोठी से जुड़ा हुआ 'ख़ास महल' था जो अकबर का आवास गृह था। यह दोमंजिला महल है जिसके चारों कोनो पर चार छतरियां हैं। इसकी बाहरी दीवार सफ़ेद संगमरमर के जालीदार पर्दों और लाल-ग्रेनाईट के पत्थरों से बनी थी जिससे राजकीय हरम की महिलाओं के लिए ओट हो सके। ख़ास महल के उपरी मंजिल के किनारे पर 'झरोखा-ए-दर्शन' है। यहीं से बादशाह अकबर प्रत्येक दिन अपनी प्रजा को दर्शन देता था। 'बीरबल का महल' दोमंजिला इमारत है। इसके ऊपर चपटे गुम्बद और बरसातियों की छतें पिंडाकार (पिरामिडनुमा) हैं। इसके छज्जे कोष्ठकों पर आधारित हैं। इस भवन के आन्तरिक एवं वाह्य दोनों भाग सुसज्जित हैं। एक समालोचक के अनुसार बीरबल का महल 'निवास के लिए बनी श्रेष्ठ इमारत का श्रेष्ठ नमूना, डिजाइन की क्रमबद्धता के लिए उल्लेखनीय और सजावट तथा वास्तु शास्त्र की दृष्टि से अनुपम है।'

इस प्रकार सीकरी की इमारतें अकबर के कलाप्रेम को तो दर्शाती ही हैं। साथ ही यह उसके एक महान निर्माता एवं शासक होने को भी द्योतित करती है। कलाविद फर्ग्यूसन अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन एंड इस्टर्न आर्किटेक्चर' में लिखते हैं - 'सीकरी के यह भवन पाषाण का ऐसा रोमांस है जो कि अन्यत्र कम, बहुत कम ही मिलेंगे और ये उस निर्माण कराने वाले के मस्तिष्क की ऐसी प्रतिच्छाया है, जो किसी अन्य स्रोत में सरलतापूर्वक उपलब्ध नहीं हो सकता।' इतिहासकार विसेंट स्मिथ तो एक कदम और आगे बढ़ते हुए कह उठते हैं - 'फतेहपुर सीकरी जैसा निर्माण कार्य न पहले कभी हुआ था और न कभी होगा। यह रोमांस का ऐसा प्रतिरूप है, जिसमें अकबर की अद्भुत

प्रवृति के सभी मनोभाव जड़ गए हैं।'

जहाँगीर के समय मुग़ल स्थापत्य कला:

अकबर के पुत्र जहांगीर की रुचि चित्रकला एवं बाग़ लगवाने में अधिक थी। फिर भी उसने वास्तुकला में अपनी कुछ रूचि दिखाई है। अपने समय में उसने दो महत्वपूर्ण इमारतों का निर्माण कार्य कराया। पहले कार्य के अंतर्गत उसने अपने पिता अकबर के मकबरे को पूरा कराया जिसकी नींव अकबर के समय में ही पड़ गयी थी। दुसरे कार्य के अंतर्गत उसने एतमाद-उद-दौला का मकबरा निर्मित कराया जो मुग़ल स्थापत्य की एक अनुपम कृति मानी जाती है। यह इमारत बादशाह की पत्नी नूरजहाँ की देख-रेख में बनवाई गयी। इसके अतिरिक्त जहांगीर ने सिकंदरा में अपनी माँ का मकबरा और कांच महल का निर्माण कार्य भी कराया।

आगरा से लगभग पांच मील की दूरी पर सिकन्दरा नामक गाँव अवस्थित है। यहीं पर अकबर का मकबरा है जिसकी योजना स्वयं अकबर ने बनायी थी। अकबर ने इसका निर्माण कार्य शुरू भी करा दिया। लेकिन जब इस मकबरे की चौकी ही बन पायी थी कि बादशाह अकबर का निधन हो गया। जहाँगीर ने इसका निर्माण कार्य जारी रखा और यह कार्य 1613 ई. में पूरा हो गया। जहाँगीर अपनी आत्म-कथा में इसका विस्तृत विवरण देता है। इस मकबरे की बनावट परम्परागत इस्लामी शैली की न होकर बौद्ध बिहार जैसी है। यह पिरामिडनुमा है जिसके चारो ओर बुर्जीदार ऊँची दीवार है। इसकी ऊँचाई १०० फुट है। इसका निर्माण चारबाग शैली पर किया गया है जिसमें चार द्वार बने हैं। दक्षिण का द्वार सर्वाधिक सुन्दर है जो मकबरे का मुख्य-द्वार भी है। बाकी के तीन प्रवेश द्वार नकली हैं जो केवल अनुरूपता के लिए बनाए गए हैं। तीस फीट ऊँची चौकी पर बना यह मकबरा बड़ा शान्त, गम्भीर, विशाल एवं गरिमामय है जो अकबर के व्यक्तित्व को रूपायित करता है। इसके चारो कोनो पर सफ़ेद संगमरमर की चार सुन्दर मीनारें हैं। कलाविद पर्सी ब्राउन के अनुसार 'सिकन्दरा के इस मकबरा के पहले

किसी भी इमारत में ऐसी सुन्दर मीनारें नहीं बनी हैं। ये मीनारें कोई नवीन प्रयोग नहीं थीं बल्कि अपने पूरे और अंतिम आकार-प्रकार में पूर्णता को प्राप्त थीं।' यह एक पचमंजिली इमारत है जिसकी प्रत्येक उपरी मंजिल नीचे की मंजिल से आकार में छोटी होती गयी है। पहली मंजिल पर अकबर की असली कब्र बनी है जो सफ़ेद संगमरमर की है। इसके उपरी तल पर निर्मित कब्र नकली है। दोनों कब्रों पर फूलों का चित्रण किया गया है। कब्र के सिरहाने 'अल्ला-हु-अकबर' यानी 'ईश्वर महान है' और पैताने की ओर 'जल्ले-जलाल-हू' यानी 'उसकी शान में वृद्धि हो' अंकित है। कब्र के चारो तरफ खुदा के 99 नाम अरबी में खुदे हैं। कलाविद हैवेल ने इसके बारे में उचित ही लिखा है- 'अकबर का मकबरा एक महान भारतीय शासक का उपयुक्त स्मारक है।' यह मकबरा अकबर की धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक सर्वजातीय स्मारक है अर्थात यह हिन्दू, बौद्ध, मुस्लिम और ईसाई स्थापत्य कला शैलियों के सुन्दर समन्वय का उदाहरण है।

एतमाद-उत-दौला का मकबरा:

जहाँगीर द्वारा आगरा में निर्मित यह दूसरी महत्वपूर्ण इमारत है। एतमाद-उद-दौला नूरजहाँ के पिता और जहाँगीर के श्वसुर थे। जहांगीर द्वारा निर्मित यह मकबरा अकबर और शाहजहाँ के बीच की स्थापत्य शैलियों को जोड़ने वाला सेतु है क्योकि इसके निर्माण में लाल-पत्थर और संगमरमर का इस्तेमाल किया गया है। आगरा में यमुना तट पर स्थित इस आलंकारिक इमारत का निर्माण कार्य नूरजहाँ ने 1626 ई. में ईरानी शैली में कराया था। यह मकबरा 540 फुट लम्बे और चौड़े अहाते में 150 फुट वर्गाकार चबूतरे पर निर्मित है। इसके चारो ओर चार प्रवेश-द्वार हैं। मकबरे का मुख्य कक्ष वर्गाकार (22 फुट) है। मुख्य मकबरा सफ़ेद संगमरमर का है। जिसमें एतमाद-उद-दौला और उसकी पत्नी की कब्रें पीले बहुमूल्य पत्थर की बनी हैं। कक्ष की दीवारों पर कुरआन की आयतें अंकित हैं। अलंकरण में फूल-पत्तियों की बहुतायत से जहाँगीर के प्रकृति-प्रेम का पता चलता है। इससे संलग्न अनेक कक्ष

है जिसमें उसके परिवार के लोगों की कब्रें हैं। इस दोमंजिले भवन के प्रत्येक कोने पर अष्टकोणीय मीनारें बनाईं गयीं हैं। मुग़लकालीन यह पहली ऐसी इमारत है जो पूरी तरह सफ़ेद संगमरमर से बनी है और जिसमें सबसे पहले 'पित्रा-ड्यूरा' शैली का काम किया गया है। पर्सी ब्राउन के अनुसार 'मकबरे में सोने तथा बहुमूल्य पत्थरों के जडाऊ काम का श्रीगणेश मिलता है।' हालांकि कई जगहों पर इसकी शैली के अनुरूप सजावट उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। इसके प्रभाव के बारे में फग्र्यूसन लिखते हैं- 'इसके झरोखों में वेधित संगमरमर खण्डों पर की गयी सुन्दर नक्काशी, जो फतेहपुर सीकरी स्थित सलीम चिश्ती की दरगाह से मेल खाती है, इसके श्वेत संगमरमरी दीवारों की सुन्दरता और सजावट के श्रेष्ठ रंग मिल कर इतना सौन्दर्यमय प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि उचित रूप में उसकी कलात्मक तुलना बाद में निर्मित शाहजहाँ की इमारतों से ही न्यायसंगत रूप में की जा सकती है।'

इस समय निर्मित इमारतों में जहाँगीर का मकबरा, अब्दुर्रहीम खानेखाना का मकबरा, जालंधर में निर्मित सराय, लाहौर के निकट शाहदरा में स्थित जहाँगीर का मकबरा प्रमुख हैं। जहाँगीर के मकबरे का निर्माण नूरजहाँ ने 'अकबर के मकबरे' की तर्ज पर कराया। यह एकमंजिला वर्गाकार इमारत २२ फुट ऊँची है। इसके प्रत्येक कोने पर एक सुन्दर मीनार है। अत्यधिक सजावट और जडाऊ संगमरमर इसकी प्रमुख विशेषता है।

शाहजहाँ का संगमरमरी काल:

शाहजहाँ का काल साहित्य, संस्कृति और कला की दृष्टि से मुग़ल वंश का चरमोत्कर्ष का काल था। अपने पितामह अकबर की हिन्दू उदारवाद की शैली की जगह शाहजहाँ ने फ़ारसी पद्धति के रूपांकनों को अपनाया। तथापि इस समय के स्थापत्य में शाहजहाँ की अपनी सोच एवं कल्पना शक्ति का सुन्दर समन्वय भी दिखाई पड़ता है। रेने ग्राउज ने 'दि सिविलाईजेशन ऑफ़ ईस्ट इंडिया' में इस बात की तस्दीक करते हुए लिखा है- 'वे इमारतें जो इसने निर्मित की हैं, श्वेत संगमरमर

के उचित उपयोग, रंगीन पत्थरों की सुरुचिपूर्ण सजावट एवं नक्काशी को देखते हुए इस्फहान और कुस्तुन्तुनिया की इमारतों से भिन्नता रखती है।' इस युग के स्थापत्य में संगमरमर की अधिकता को देखते हुए कुछ विद्वानों ने इसे 'संगमरमर के युग' की संज्ञा दी है। 'मोती मस्जिद' और 'ताजमहल' जैसी सफ़ेद संगमरमर की इमारतें अपने सम्पूर्ण स्थापत्य में बेजोड़ बन पडी हैं और आज की विश्व-प्रसिद्ध इमारतों में शुमार की जाती हैं। दातेंदार मेहराब, दुहरा गुम्बद जो बल्बाकार तथा ऊँचा उठा हुआ है, इमारत के उठान और विभिन्न भागों में उचित तालमेल, रंगीन कीमती पत्थरों के जडाऊ काम का उचित स्थान पर प्रयोग शाहजहाँयुगीन स्थापत्यकला की प्रमुख विशेषताएँ हैं। शाहजहाँ कालीन लगभग सभी इमारतों में मेहराबें पत्तियोंदार या नोकदार है, जिससे सफ़ेद संगमरमर के खम्भों पर आधारित किनारेदार मेहराबों की कतारें इस युग की विशेषता बन गयी है। संगमरमर के प्रति शाहजहाँ का जूनून इस कदर था कि आगरा, लाहौर तथा अन्य स्थानों में पूर्वजों द्वारा बनवाई गयी अनेक इमारतों को उसने संगमरमर की इमारतों में परिवर्तित करना शुरू कर दिया। लाहौर के किले की ऐसी इमारतों में दीवाने-आम, मुस्समन बुर्ज, ख्वाबगाह तथा शीशमहल मुख्य है। आगरा के किले में शाहजहाँ द्वारा ज्यादा परिवर्तन कराये गए और इसी क्रम में अनेक पुरानी इमारतें ध्वस्त कर दी गयीं। शाहजहाँ द्वारा कराये गए नवीन निर्माणों में दीवाने-आम, दीवाने-ख़ास, मोती-मस्जिद और खास-महल उल्लेखनीय है। दो पीढ़ियों और शैलियों का अन्तर यहाँ पर स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। कलाविद फर्ग्यूसन लिखते हैं- 'दो शैलियों में इतना अधिक भेद आगरा के महलों के अलावा और कहीं नहीं है। अकबर या जहाँगीर द्वारा लाल-पत्थर से निर्मित हिन्दू वास्तुशिल्प से हो कर एक द्वार आगे की ओर खुलता है, वहाँ से संगमरमर से निर्मित शाहजहाँ के हरम में प्रवेश करते ही भिन्न प्रकार का शिल्प विधान देखने को मिलता है। किन्तु इस भिन्न प्रकार में भी एक कलात्मक सौन्दर्य है जो प्राच्य की देन है।'

शाहजहाँ नूतन परिकल्पनाओं को यथार्थ के स्तर पर रूपायित करने वाला बादशाह था। इसी क्रम में उसने 1638 ई. में अपनी राजधानी परिवर्तन की योजना बनायी और इसके लिए जो स्थल चुना गया वह था शाहजहाँनाबाद। शाहजहाँनाबाद नामक नयी राजधानी की आधारशिला उसके द्वारा 1649 ई. में रखी गयी। यह दिल्ली की सातवीं बसावट थी। इस नए नगर में शाही निवास के लिए शाहजहाँ ने 'लाल-किले' का निर्माण कराया। हमीद और अहमद जैसे गुनी वास्तुकारों की देखरेख में 1648 ई. में एक करोड़ रुपये की लागत से लाल-किले का निर्माण कार्य संपन्न हुआ। उत्तर से दक्षिण की ओर इसकी संरचना समानान्तर चतुर्भुजाकार है। इसकी लम्बाई लगभग 3200 फुट और चौडाई 1600 फुट है। नए बलुआ पत्थर के ऊँचे प्राचीर से घिरे लाल किले का नक्शा अठपहलू है। किले में तीन प्रवेश द्वार हैं। पश्चिम दिशा में स्थित लाहौरी द्वार इसका मुख्य प्रवेश द्वार है जो कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट है। दक्षिणी द्वार को 'दिल्ली द्वार' कहा गया। किले के भीतर बाजार, नौबतखाना, शाही निवास, दरबार कक्ष, राजकीय संग्रहालय, राजकीय कक्ष, बरामदे, रसोई-गृह, अस्तबल, नौकरों के लिए निवास तो बने ही हैं साथ ही कई उत्कृष्टतम इमारतें भी इसे बेजोड़ बना देती हैं। इन इमारतों में 'दरबारे-आम', 'दरबारे-ख़ास' और 'रंग-महल' उल्लेखनीय हैं जो उस समय की शानो-शौकत और कलात्मकता का परिचय देते हैं। नदी के ऊपर के भाग में संगमरमर के अनेक मंडप और सुन्दर महल जैसे- मोती महल, हीरा महल और रंगमहल आदि एक ही शैली में निर्मित है। इन इमारतों के एक सिरे से दूसरे सिरे तक छोटी-छोटी नहरों की व्यवस्था है जो कि आंशिक रूप से हम्मामों को पानी देने के लिए बनायी गयी थी। किले में जलापूर्ति के उद्देश्य से यमुना में 70 फुट का एक बाँध बनाया गया था जहां से पानी को एक नहर 'नहरे-बहिश्त' के द्वारा किले में पहुँचाया जाता था। यह नहर उत्तर-पूर्वी कोने में स्थित शाहबुर्ज से खुले केन्द्रीय मेहराबदार मंडप के संगमरमर के झरने से प्रवेश करती थी और वहीँ से नालियों के द्वारा सभी दिशाओं में विभक्त हो जाती थी।

किले के अन्दर की सभी इमारतों में 'दीवाने-ख़ास' सर्वाधिक नियोजित और महत्वपूर्ण है। इसके बारे में कलाविद फर्ग्यूसन का कहना है कि 'यह आगरे की इमारत से बड़ा तथा अलंकरण में उससे बहुत आगे है। हालांकि इसका डिजाइन इतना उत्तम नहीं है किन्तु इसके रत्न खचित सौन्दर्य की कोई तुलना नहीं है।, जिसने इसे काव्यमय स्वरुप प्रदान किया है।' इसके एक कक्ष में यह विख्यात वाक्य लिखा है कि 'यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है, यहीं है।'

ग़र फिरदौस बर रूये जमीं अस्त।

हमीं अस्त, उ हमीं अस्त, उ हमीं अस्त।।

'दीवाने-आम' और 'रंग-महल' अन्य इमारतों से बड़े, अलंकारपूर्ण एवं श्रेष्ठ कला के परिचायक हैं। ये दोनों भवन खुले हुए और एकमंजिला मंडप की शक्ल के हैं। दीवाने-आम के पीछे की दीवार में एक कोष्ठ है जिसमें विश्वविख्यात 'तख्ते-ताउस' को रखा जाता था। इस कोष्ठक की दीवारों में जड़ावट का काम है। 'रंग-महल' बादशाह का निजी निवास था, जो अत्यन्त शोभायुक्त है। इसमें पर्दे के लिए पत्थर की जालियों का उपयोग किया गया है। महल के इस भाग में दीवारों पर चमकीले शीशे जड़ कर चित्रात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की सार्थक कोशिश की गयी है।

लाल किले से आधा किलोमीटर की दूरी पर शाहजहाँ ने दस लाख रुपये की लागत से भारत की सबसे बड़ी मस्जिद 'जामा-मस्जिद' का निर्माण कराया। इसमें तीन प्रवेश द्वार हैं। इसके पूर्वी प्रवेश द्वार से बादशाह शाहजहाँ नमाज पढ़ने जाता था जबकि उत्तरी और दक्षिणी प्रवेश द्वारों से सामान्य जनता जाती थी। मस्जिद के उपरी भाग पर तीन गुम्बद निर्मित किये गए जिनमें बीच का गुम्बद सबसे बड़ा है। मस्जिद के अग्र भाग में एक मेहराब बनी है और दोनों किनारों पर दो ऊँची मीनारें बनी हैं।

मस्जिद का चौरस आँगन लगभग सौ वर्ग मीटर में फैला हुआ

है। जामा मस्जिद के स्थापत्य पर टिप्पणी करते हुए शान्ति स्वरुप लिखते है- 'इसकी ऊँची कुर्सी पर चढ़ने के लिए सोपानों की लम्बी कतार, विशाल चतुष्कोण, संगमरमर से निर्मित तीन विशाल गुम्बद और उत्तुंग मीनारें सम्पूर्ण रचना को अत्यंत प्रभावशाली और चित्रात्मक बना देती है।'

आगरे में शाहजहाँ ने एक से बढ़ कर एक बेहतरीन इमारतें तैयार कराईं। दीवाने-आम, मच्छी भवन, दीवाने-ख़ास,शीश महल, ख़ास महल, अंगूरी बाग़, झरोखा दर्शन, मुसम्मन बुर्ज शाही मस्जिद, नगीना मस्जिद, मोती मस्जिद, जामा मस्जिद और ताजमहल आगरा की ही नहीं अपितु मुग़ल स्थापत्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। दीवाने-आम एक खुली इमारत है जिसे शाहजहाँ ने 1628 ई. में बनवाया था। इसकी लम्बाई 201 फुट और चौडाई 67 फुट है। यह हाल तीन ओर से खुला है। हाल के चौथी ओर बीच में एक ऊँची लम्बी गैलरी है जो पित्रा-ड्यूरा के सुन्दर, जडाऊ और उभरी फूल-पत्तियों से सुसज्जित की गयी है। इस गैलरी या मंडप में सम्राट सिंहासन पर बैठता था। शाहजहाँ के काल में शाही सिंहासन शुद्ध सोने और रत्नों का बना हुआ था। यह तख्ते-ताउस या मयूर सिंहासन के नाम से जाना जाता है। यह बेबादल खां की देख-रेख बना था। यह साढ़े तीन गज लम्बा ढाई गज चौड़ा औए पांच गज ऊँचा था। यह पन्ने के बारह खम्भों पर आधारित था जिनके ऊपर रत्नों से सजे हुए दो-दो मोर बने हुए थे। इन मोरों के बीच लाल, हीरों, पन्नों और मोतियों से जड़ा एक-एक पेड़ था। सम्राट के आसन तक पहुँचने के लिए इसमें तीन रत्नजड़ित सीढियाँ बनी हुई थीं। कारीगरों के वेतन को छोड़ कर इस सिंहासन को बनाने में प्रयुक्त सामग्री को बनाने में एक करोड़ रूपया लगा था।

दीवाने-आम के पीछे मच्छी भवन स्थित है। लाल पत्थर की बनी यह इमारत 60 गज लम्बी और 55 गज चौड़ी है। इसके पहली मंजिल पर तीन इमारतें और कार्यालय है जिनमें रत्नों का कोषागार महत्वपूर्ण है। मच्छी भवन के सहन में सफ़ेद संगमरमर के अनेक सरोवर थे

जिनमें शाही परिवार के लोग मनोरंजन के लिए मछलियों का शिकार किया करते थे। मच्छी भवन के ऊपर पश्चिम में यमुना नदी के ऊपर दीवाने-ख़ास बना हुआ था। यह विशेष दरबार था जिसमें चुनिन्दा लोग ही भाग लेते थे। सफ़ेद संगमरमर की इस आयताकार इमारत की लम्बाई 64 फुट 9 इंच, चौड़ाई 34 फुट और ऊँचाई 22 फुट है। इसमें दो हाल बने हैं जो स्थापत्य कला के अनुपम नमूने हैं। दीवाने ख़ास के पीछे शीश महल बना हुआ है जिसकी दीवारें और दरवाजे शीशे से जडित हैं। दीवाने ख़ास के सामने के सहन के नीचे सोने के सिक्कों और अशर्फियों को सुरक्षित रखने के लिए कोषागार बने थे। दीवाने ख़ास से बिलकुल लगा हुआ खास-महल है जिसे केवल सम्राट और साम्राज्ञी के रहने के लिए बनवाया गया था। ख़ास महल के नीचे का भाग लाल पत्थर का बना है जबकि इसका सम्पूर्ण उपरी भाग सफ़ेद संगमरमर का बना है। इसके सुसज्जित आरामदेह कक्ष वैदूर्य मणि, गोमेद, सूर्यकान्त, पुखराज और लालों से सभी ओर से दमकते रहते हैं। ख़ास महल के सामने 235 फुट लम्बा और 170 फुट चौड़ा अंगूरी बाग़ है। इसके तीन ओर कमरों की कतारें हैं। ये कमरे मुग़ल हरम की महिलाओं के लिए बनवाये गए थे। चौथी ओर संगमरमर का एक बड़ा मंडप है जिसके सहन में अंगूरी बाग़ नामक एक सुन्दर बागीचा लगवाया गया था। ख़ास महल के बगल में सफ़ेद संगमरमर का झरोखा दर्शन बना है। प्रत्येक दिन सुबह बादशाह यहाँ जनता को दर्शन देने आया करता था। इस दौरान वह प्रजा की शिकायतें सुनता था और उसका निराकरण भी तत्काल कर देता था।

ख़ास महल के उत्तर में स्थित मुसम्मन बुर्ज को शाहबुर्ज भी कहा जाता है जिसे शाहजहाँ ने सफ़ेद संगमरमर से बनवाया था। यह छः मंजिली इमारत है और अठपहलू है। मुसम्मन बुर्ज से मुग़ल हरम की स्त्रियाँ नीचे खुले मैदान में होने वाले पशु युद्धों को देखा करता था। इसके दूसरी ओर बादशाह संगमरमर के सिंहासन पर बैठता था। शाहजहाँ ने अपने बन्दीजीवन के आठ वर्ष (1656-1666 ई.) यहीं बिताए। इस दौरान शाहजहाँ ने अपनी प्रियतमा बेगम के मकबरे ताजमहल की ओर

देखते हुए अपनी अंतिम सांस ली थी। मच्छी भवन के उत्तर-पश्चिमी सिरे पर एक छोटी सी सफ़ेद संगमरमर की मस्जिद बनी है जिसे नगीना मस्जिद कहा जाता है। इसे हरम की महिलाओं के लिए ख़ास तौर पर बनवाया गया था।

आगरे के किले में सबसे सुन्दर इमारत है -मोती मस्जिद। दीवाने-ख़ास के उत्तर में स्थित इस मोती मस्जिद की लम्बाई 237 फुट और चौडाई 187 फुट है। इसका बाहरी भाग लाल पत्थरों से और भीतरी भाग संगमरमर से निर्मित है। इसके वर्गाकार आँगन के चारों ओर सफ़ेद पत्थरों से निर्मित वीथिका एवं स्तम्भयुक्त बरामदा है। मस्जिद के अन्दर दोनों तरफ संगमरमर के जालीदार पर्दों की व्यवस्था है जबकि उपरी भाग में सुडौल गुम्बद और सुन्दर मीनार शोभायमान है। मोती मस्जिद की नींव 1648 ई. में डाली गयी और यह 1653 ई. में बन कर तैयार हो गयी। इसके निर्माण पर तीन लाख रुपये की लागत आई थी। कलाविद पर्सी ब्राउन के अनुसार 'मोती मस्जिद अपनी निर्दोष निर्माण सामग्री एवं अपने अंगों की कौशलपूर्ण नियंत्रित रचना के कारण चरमोत्कर्ष पर पहुंची हुई मुग़ल कला का प्रतिनिधित्व करती है।'

किले के मुख्य द्वार से लगभग एक फर्लांग की दूरी पर सामने जामा मस्जिद निर्मित है। इसका निर्माण बादशाह शाहजहाँ की बड़ी पुत्री जहाँआरा बेगम ने कराया था। यह एक ऊँची कुर्सी पर लाल पत्थर की बनी हुई है। मुख्य इमारत 130 फुट लम्बी और 100 फुट चौड़ी है। यह तीन भागों में विभाजित है और इन तीनों भागों के उपर तीन सुन्दर गुम्बद बने हुए हैं। इन गुम्बदों के बाहरी भाग सफ़ेद संगमरमर और लाल पत्थर के जडाऊ काम से सुसज्जित है। यह मेहराबों की कतारों पर आधारित है। 'मस्जिद की छत के प्रत्येक कोने पर एक-एक अठपहलू गुम्बदयुक्त छतरी है और इसका आग्र भाग छोटी-छोटी अनेक छ्तरियों की पंक्तियों से सुसज्जित है। केन्द्रीय भाग की छ्त के चारों कोनों पर चार पतली सुन्दर मीनारें निकलती हैं।' इसका निर्माण आम जन के उपयोग के लिए किया गया था। इस मस्जिद के एक अभिलेख के

अनुसार इसका निर्माण 1648 ई. में कराया गया था। इसके निर्माण पर 5 लाख रूपये की लागत आई थी।

ताजमहल

ताजमहल मुग़ल स्थापत्य की चरम परिणति है जिसका निर्माण शाहजहाँ ने अपनी पत्नी और प्रियतमा मुमताजमहल की स्मृति में कराया था। ताजमहल आगरा के किले से लगभग एक मील पूर्व दिशा में यमुना किनारे स्थित है। ताजमहल की योजना किसने बनायी थी? इस बात को लेकर विद्वानों में मतभेद है। फादर मेनरिख के अनुसार ताज की योजना एक वेनेशियन कलाकार जिरोनिमो वेरोनियो ने तैयार की थी। प्रख्यात कलाविद ई. बी. हावेल और पर्सी ब्राउन ताज की यूरोपीय उत्पत्ति के मत को खारिज करते हुए कहते हैं कि ताजमहल की शैली पूर्णरूपेण भारतीय है आधुनिक शोधों से भी यह स्पष्ट होता है कि ताजमहल का नमूना शाहजहाँ के प्रधान कारीगर उस्ताद अहमद लाहौरी ने तैयार किया था जिसे बादशाह ने 'नादिर-उल-अस्र' की उपाधि से सम्मानित किया था। अब इस बात में कोई संदेह नहीं है कि इस बेजोड़ स्मारक की मोटी रूपरेखा खुद बादशाह ने बनायी थी। क्योंकि कोई भी दूसरा व्यक्ति ऐसी कोई योजना नहीं सुझा सकता था जो बादशाह के मन की रूपरेखा से पूरी तरह मेल खा सके। और यह जगजाहिर है कि शाहजहाँ खुद कला का बड़ा पारखी और स्वप्नदर्शी था। ताज का प्रमुख कलाकार उस्ताद ईसा खां था जिसकी सहायता मोहम्मद हनीफ, अमानत खां, मोहम्मद खां, मोहम्मद शरीफ़, इस्माईल खां, मोहनलाल और मोहम्मद काजिम जैसे इस समय के श्रेष्ठ कलाकारों ने की। यमुना के घुमावदार किनारे पर स्थित एक ऊँचे भू-भाग को ताज के निर्माण के लिए चुना गया। इसके निर्माण में कुल २२ वर्ष का समय लगा। जबकि 50 लाख रुपये की लागत से यह निर्मित हुआ।

पर्सी ब्राउन के अनुसार ताजमहल के मुख्य इमारत की स्थापत्य कला शैली दिल्ली स्थित हुमायूं के मकबरे तथा खानखाना के मकबरे पर आधारित है जबकि ताज के केन्द्रीय बड़े गुम्बद की बनावट ईरानी

और छोटे-छोटे फैले आधार के गुम्बद की शैली स्थानीय है। कलाविद हैवेल के अनुसार ताज की इमारती योजना के मूल को जावा के प्रामबनम के चंडी सेवा मंदिर में देखा जा सकता है। यह मंदिर 1098 ई. में भारतीय हिन्दू परम्परा के अनुसार बनाया गया है। जबकि इसके गुम्बद की शैली इस्लामिक है। मतभिन्नता के बावजूद दोनों कलाविद इस बात पर सहमत हैं कि बनावट, शैली और कारीगरी में ताजमहल पूर्णतः भारतीय है।

187 फुट चौड़े और 234 फुट लम्बे आकार में यमुना के तट पर स्थित ताजमहल एक ऊँची चहारदीवारी से घिरा है जिसके चारों कोनो पर चार चौड़े-चौड़े मेहराबयुक्त मंडप है। ताज का सज्जायुक्त एक प्रवेश द्वार है जिसके दोनों पार्श्वों में महाराबी कक्षों की लम्बी-लम्बी कतारें हैं। अहाते के अन्दर एक वर्गाकार उद्यान है जिसके उत्तरी सिरे पर संगमरमर का एक चबूतरा है। इसी चबूतरे पर २२ फुट ऊँची मेधि पर मुमताज महल का सफ़ेद संगमरमर का 108 फुट उंचा मकबरा है। इसके प्रत्येक कोने पर एक-एक छतरी और और बीच में 187 फुट ऊँची सुन्दर-सुडौल गुम्बद है। इसके चबूतरे के चारो कोनो पर 137 फुट ऊँची तिमंजिली मीनारें उपरी छतरी सहित निर्मित है। मकबरे की इमारत जितनी चौड़ी है उतनी ही ऊँची है। ताज के अन्दर एक अठपहलू केन्द्रीय विशाल कक्ष है जिसके नीचे तहखाना है और ऊपर एक मेहराबी डाटदार कक्ष है। मुमताज की कब्र इसी कक्ष के बीचोबीच है। बाद में शाहजहाँ की कब्र भी इसके बगल में बना दी गयी। इमारत के प्रत्येक भाग में जालीदार झांझरियों और पर्दों से प्रकाश पहुंचता रहता है। पर्सी ब्राउन के अनुसार 'ताजमहल में जड़ाई के काम यानी पित्रा-ड्यूरा में भारतीय कलाकारों का अनुपम धैर्य और कौशल स्पष्ट है। इसकी सरल योजना, लयात्मक वितरण और सम्पूर्ण इमारती एकता में अंगों के परस्पर कुशलता पूर्वक समन्वय के कारण इस सम्पूर्ण इमारत की रचना का प्रभाव हमारी सौन्दर्यानुभूति पर बड़ा ही प्रेरणास्पद पड़ता है। ताजमहल में प्रकाश बदलने से आश्चर्यजनक रूप से विचित्र हलके रंगों की छायाएँ

और आभाएँ आ जाती हैं जो अत्यंत मनोहारी छटा बिखेरती है।'

मुमताज महल की मृत्यु के बाद ताज का निर्माण शुरू हुआ जो सत्रह वर्षों में 1648 ई. में बन कर तैयार हुआ। इसके निर्माण में बीस हजार मजदूर प्रतिदिन जुटे रहे जिसमें नौ करोड़ रुपये से अधिक का खर्च हुआ। ताज के निर्माण में मकराना के संगमरमर का उपयोग किया गया। कुछ लोगों ने इसे मूलतः एक राजपूत महल सिद्ध करने की निर्मूल कोशिश की जिसे बाद में मकबरे का रूप दे दिया गया। लाहौरी के 'बादशाहनामा' और 'अमल-ए-सालेह' नामक ग्रंथों से यह साफ़ स्पष्ट है कि यद्यपि यह जमीन राजा जयसिंह से प्राप्त की गयी थी किन्तु इसका निर्माण कार्य नींव से प्रारम्भ हुआ।

कुल मिलाकर ताज महल मुमताज की स्त्रियोचित सुन्दरता को बड़े ही सुन्दर रूप में परिलक्षित करता है और इसी बिना पर हैवेल ने इसे 'भारतीय स्त्री जाति का देवतुल्य स्मारक' कहा है। यह एक आदर्शपूर्ण कल्पना है जो स्थापत्य कला की अपेक्षा शिल्पकला से अधिक सम्बन्धित है। यह एक ऐसी कविता है जिसमें सम्राट ने अपनी साम्राज्ञी के प्रति अतीव प्रेम की कहानी को गाया है। क्योंकि यह इतनी अधिक मानवीय है और यह उस चिर शान्ति को जो अमर-प्रेमियों की कब्रों पर छाई हुई है, जैसे वाकशक्ति प्रदान करती है। शाहजहाँ की महत्वाकांक्षा कि वह मुमताज की स्मृति को दिग-दिगंत तक बनाए रख सके, को ताजमहल ने जैसे साकार कर दिया। आज अगर इसकी गणना दुनिया के महानतम आश्चर्यों में की जाती है तो इसमें चकित होने जैसी कोई बात नहीं। वस्तुतः ताजमहल इसका हकदार भी है।

औरंगजेब के काल में मुग़ल स्थापत्य:

औरंगजेब का सम्पूर्ण जीवन विद्रोहों के दमन और युद्धों में बीता इस वजह से वह कला की तरफ ध्यान न दे सका। वैसे राजनीति में उसकी दिलचस्पी इतनी अधिक थी कि ललित कला के प्रति वह प्रायः उदासीन ही बना रहा। फिर भी उसने कुछ इमारतों का निर्माण कराया जो उसके पूर्वजों द्वारा बनवाई गयीं इमारतों की तुलना में कहीं भी नहीं

ठहरतीं।

दिल्ली के लाल किले के अन्दर कोई मस्जिद नहीं थी। इसी के मद्देनजर उसने संगमरमर की मोती मस्जिद का निर्माण कराया। औरंगजेब ने दक्षिण में औरंगाबाद में अपनी प्रिय बेगम राबिया-उद-दौरानी की स्मृति में एक मकबरे का निर्माण कराया। इसका स्थापत्य बहुत कुछ ताजमहल से मिलता-जुलता है। इसीलिए इसे द्वितीय ताजमहल की संज्ञा भी दी जाती है। परन्तु ताजमहल की नक़ल होते हुए भी यह आकार और रचना कौशल में उससे कोसो दूर है। फिर भी इस मकबरे में कब्र के चारो ओर सफ़ेद संगमरमर के अठपहलू परदे और उनकी उभरी डिजाईनों में सुन्दर कारीगरी दिखाई पड़ती है। इसके लोहे के दरवाजों और उनके किनारों पर फूल-पत्तियों की जो सुन्दर बेले गढ़ी गयी हैं वे उस समय की धातुकला की उत्कृष्टता को प्रमाणित करती है।

औरंगजेब के समय बनी इमारतों में लाहौर की बादशाही मस्जिद और जामी मस्जिद अपनी रचना एवं विशालता के कारण ख्यात है। ये प्रायद्वीप की बड़ी मस्जिदों में से एक है। किन्तु स्थापत्य कला की दृष्टि से दिल्ली की जामी मस्जिद की घटिया नकल है। शान्तिस्वरुप के अनुसार 'सामान्यतः इसमें नयी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दिखती है, जिसमें सबलता एवं सादगी है किन्तु इसके अलंकरण में पहले युग जैसी श्रेष्ठता नहीं है। धार्मिक कट्टरता के वशीभूत हो कर औरंगजेब ने बनारस में काशी विश्वनाथ मंदिर और मथुरा में वीर सिंह बुन्देला द्वारा निर्मित केशवदेव मंदिर के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया। लेकिन ये दोनों मस्जिदे मुग़ल स्थापत्य के गिरते स्तर की ही परिचायक हैं। इसी काल में दक्षिण भारत में कुछ महत्वपूर्ण इमारतों का निर्माण कराया गया। बीजापुर शहर के चारो ओर एक परकोटा बनवाया गया जिसमें कई प्रवेश द्वार थे। इसके भीतर महलों सहित मस्जिदें और मकबरे भी थे। यह स्थानीय गहरे भूरे रंग के पत्थर से बनाया गया है जो देखने में अच्छा नहीं लगता। बीजापुर का गोल गुम्बद अपनी तरह का सबसे

विशाल गुम्बद है जो 18000 वर्ग फुट से अधिक स्थान घेरे हुए है। दूसरी महत्वपूर्ण इमारत अली आदिल शाह की जामी मस्जिद है लेकिन यह अपूर्ण है। इब्राहिम का रोजा बीजापुर की अंतिम प्रमुख इमारत है जिसमें सुलतान इब्राहिम द्वितीय का मकबरा और उससे जुडी एक मस्जिद है। इस समय खान देश में भी कुछ ऐतिहासिक इमारतें बनवाई गयीं जिनमें बुरहानपुर का महल, थालनेर के कुछ मकबरे और मस्जिदें उल्लेखनीय हैं। अट्ठारहवीं सदी की दूसरी महत्वपूर्ण इमारत दिल्ली में स्थित अवध के वायसराय सफदरजंग का मकबरा है जिसका निर्माण मुग़ल बादशाह मुहम्मद शाह के राज्य काल (1719-48 ई.) के अंतर्गत कराया गया। बागयुक्त मकबरे का यह अंतिम नमूना है जिसे हुमायूं के मकबरे की तर्ज पर बनवाया गया।

3.3 सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि मुग़ल स्थापत्य कला का विकास किस प्रकार हुआ। प्रख्यात मुग़ल शासकों ने किस प्रकार कला में पर्याप्त रुचि लेकर इसे बढ़ावा दिया। अकबर और जहांगीर के समय में इस स्थापत्य कला ने राष्ट्रीय कला का रूप ले लिया। कला के पारखी बादशाह शाहजहाँ ने अपनी कल्पनाशीलता और कलात्मक अभिरूचि को संगमरमरी इमारतों में ढाल दिया और उसके समय में एक से बढ़ कर इमारतों का निर्माण कार्य कराया गया। इसी समय बनवाया गया मुमताज महल का मकबरा आगरा का ताजमहल तो इस कदर खूबसूरत निर्माण बन पड़ा कि कलाविदों ने इसे संगमरमर में ढाली गयी कविता तक की उपमा दे डाली। आपने यह भी जाना कि एक लम्बे समय तक शासन करने और अपेक्षाकृत शान्ति-व्यवस्था के वातावरण ने इन महान निर्मितियों को साकार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कहना न होगा कि आज भी जब कोई देशी-विदेशी पर्यटक इन इमारतों को देखने जाता है तो वह इनका निर्माण देख कर चकित रह जाता है और इन्हें बार-बार देखने के बावजूद वह हर बार एक अलग तरह का अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है।

3.4 बोध प्रश्न

1. बुलन्द दरवाजे का निर्माण कहाँ की विजय की स्मृति के रूप में किया गया?

   अ). गुजरात

   ब). दक्षिण

   स). बंगाल

   द). कश्मीर

2. शाहजहाँ ने अपने बंदी जीवन के आठ वर्ष किस इमारत में बिताए?

   अ). ताजमहल

   ब). जामा मस्जिद

   स). मुसम्मन बुर्ज

   द). मच्छी भवन

3. किस इमारत को दूसरे ताजमहल की संज्ञा दी जाती है?

   अ). राबिया-उद-दौरानी का मकबरा

   ब). मोती मस्जिद

   स). हुमायूं का मकबरा

   द). नगीना मस्जिद

4). ताजमहल पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिए।

5). अकबरकालीन स्थापत्य की विशिष्टताओं पर प्रकाश डालिए।

3.5 इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. ब्राउन, पर्सी; इन्डियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड), ऑक्सफ़ोर्ड, 1924

2. चोपड़ा, पी. एन., बी. एन. पुरी, एम. एन. दास; भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, भाग- दो, मैकमिलन, पटना, 1975
3. दास, ब्रजरत्न द्वारा अनुदित जहांगीर का आत्मचरित
4. अबुल फजल; आईन-ए-अकबरी
5. फर्ग्यूसन, जे.: हिस्ट्री ऑफ़ इन्डियन एंड इस्टर्न आर्किटेक्चर, (दो भागों में) 1899 न्यूयार्क,
6. मजूमदार, रमेश चन्द्र, हेमचन्द्र राय चौधरी, कालिकिंकर दत्त; भारत का वृहद् इतिहास, भाग-दो, मैकमिलन, दिल्ली, 1954
7. पाण्डेय, राजेन्द्र; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, 1976
8. प्रसाद, बेनी; हिस्ट्री ऑफ़ जहाँगीर, इलाहाबाद, 1976
9. राधेश्याम, मध्यकालीन प्रशासन समाज एवं संस्कृति, इलाहाबाद, 1993
10. रालैंड, बेंजामिन; द आर्ट एंड आर्किटेक्चर ऑफ़ इण्डिया, पेंगुइन, 1977
11. सक्सेना, बनारसी प्रसाद: हिस्ट्री ऑफ़ शाहजहाँ ऑफ़ देलही, इलाहाबाद, 1962
12. शर्मा, एल. पी.; मध्यकालीन भारत, आगरा, 1975
13. स्मिथ, विसेंट: अकबर दि ग्रेट मुग़ल, दिल्ली, 1962
14. श्रीवास्तव, ए. एल.; अकबर द ग्रेट मुग़ल (तीन भाग में); द मुग़ल एम्पायर (1526-1803); मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
15. वर्मा, हरिश्चन्द्र (संपा.), मध्यकालीन भारत खंड-2 (1540-1761ई.), दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993

3.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न 1. (ब), 2. (स), 3. (अ)

इकाई-4

मुगल चित्रकला

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 विभिन्न मुगल बादशाहों के काल में चित्रकला

(1). **बाबर**

(2). **हुमायूं**

(3). **अकबर**

(4). **जहांगीर**

(5). **शाहजहां**

(6). **औरंगजेब**

4.3 उत्तर मुगलकालीन चित्रकला

4.4 मुगलकालीन चित्रकला के पतन के कारण

4.5 क्षेत्रीय चित्रकला का विकास

4.6 सारांश

4.7 बोध प्रश्न

4.8 इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि

मुगल चित्रकला के विकास में कौन से तत्व सहायक थे?

मुगल चित्रकला का विकास कैसे हुआ और इस दौर के प्रमुख चित्रकार कौन थे?

मुगल चित्रकला की विशेषताएं क्या है?

और मुगल चित्रकला ने भारतीय मध्यकालीन संस्कृति को किस प्रकार एक नया आयाम देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई?

4.1 प्रस्तावना

कला के क्षेत्र में चित्र वह माध्यम है जिसका प्रभाव मनुष्य के मन मस्तिष्क पर दूर तक और देर तक पड़ता है। कहा भी गया है कि एक चित्र हजार शब्दों से भी ज्यादा प्रभावी होता है। संस्कृति के विकास में चित्रकला की अहम भूमिका हुआ करती है। प्राचीन काल के मानव ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए सबसे पहले चित्रकला को ही चुना और तब से यह सिलसिला अनवरत जारी है। इतिहास के लिए चित्रकला इस मायने में भी बहुत महत्वपूर्ण है कि यह समकालीन इतिहास को जानने के लिए एक प्रभावी एवं पुष्ट स्रोत के रूप में भी उपयोग में लाया जा सकता है। इसके द्वारा तत्कालीन शासकों के दरबार, उनके पहनावे एवं उनकी रूचियों, राजदरबार के दरबारी गण और उनके पहनावे, आम आदमी, उस काल की वनस्पतियां, फूल, पत्ती, पक्षी, जानवर आदि के बारे में हमें जो जानकारियां मिलती हैं वह शायद ही किसी अन्य स्रोत से हमें इस रूप में प्राप्त हो सके।

मुगल चित्रकला की पृष्ठभूमि :

भारत में चित्रकला की अत्यंत समृद्ध परंपरा रही है। प्रागैतिहासिक काल में उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर और मध्य प्रदेश के रायसेन जिले के भीमबेटका के शिलाश्रयों और गुफाओं से प्रारंभ हुई भारतीय चित्रकला आद्य ऐतिहासिक काल में हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा, लोथल से होते हुए ऐतिहासिक काल में अजंता, एलोरा तथा बाघ की गुफाओं के चित्रांकनों में अपने उत्कर्ष पर पहुंचती है। सल्तनत काल में यह परम्परा जरूर थोड़ी शिथिल पड़ गई लेकिन शीघ्र ही मुगलों के आगमन ने भारतीय चित्रकला को एक नया आयाम प्रदान किया। मुगल बादशाहों की कला में रुचि उत्पन्न होने का असर चित्रकला पर भी स्पष्ट रूप से

दिखाई पड़ता है।

मुगल चित्रकला को भारतीय चित्रकला की भले ही एक समृद्ध विरासत मिली हो लेकिन अपने पहले की समस्त पूर्वर्ती चित्रकलाओं से यह इस। अर्थ में अलग है कि इसने हिंदू एवम इस्लाम धर्म व संस्कृति का न केवल साझा प्रतिनिधित्व किया, बल्कि इस्लाम की रूढ़ मानसिकता को भी खंडित करने में कामयाबी हासिल की जिसमें शुरू से ही चित्रकला का निषेध था। यही नहीं उन्होंने विभिन्न पृष्ठभूमि के चित्रकारों को अपने शासनकाल में चित्र बनाने के लिए प्रोत्साहित किया। जिसमें फारसी चित्रकारों के साथ-साथ ही भारतीय चित्रकार भी शामिल हुए। इस प्रकार मुगल चित्रकला विभिन्न संस्कृतियों के संगम के रूप में दिखाई पड़ती है जिसमें पुरातनता के साथ साथ नाथ नव्यता एवं प्रगतिशील का का एक साथ समावेश हुआ। यही वह जमीन थी जिस पर आगे चलकर उस कला आंदोलन का जन्म हुआ जिसने मध्यकालीन भारतीय कला के इतिहास की धारा को पूरी तरह बदल दिया। एक और विशेष बात यह कि प्राचीन काल में बौद्ध धर्म के विभिन्न एशियाई देशों में प्रचार प्रसार से जिस व्यापक तौर पर भारतीय कला ने अन्य देशों की कला को प्रभावित किया था, उसकी पुनरावृति एक लंबे अर्से बाद मुगल चित्रकला के समय में ही होती हुई दिखाई पड़ती है।

सल्तनत काल यूँ तो कला की दृष्टि से बहुत उल्लेखनीय नहीं माना जाता लेकिन इस शासन काल के साथ आई नई संस्कृति ने परंपरागत भारतीय जीवन, संस्कृति और कला शैली को प्रभावित करना शुरू कर दिया था। इस तथ्य के उदाहरण इस समय की कुछ पांडुलिपियों में दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के तौर पर अमीर खुसरो देहलवी की ऐतिहासिक कविताओं, फिरदौसी के महाकाव्य और इस समय की पाक शास्त्र की पुस्तकों को लिया जा सकता है, जिनमें दृश्यों का चित्रण सरल ढंग से किया गया है। लेकिन चित्रण में प्रयुक्त रंग प्रभावकारी हैं। इन चित्रों में विदेशी कला का प्रभाव तो दिखता है लेकिन कलाकारों ने इसे भारतीय रंग रूप दे कर एक अलग तेवर प्रदान कर दिया है।

हरमन गोज़ ने अपनी पुस्तक **'फाइव हंड्रेड ईयर्स आफ इंडियन आर्ट'** में ऐसी कई सचित्र हस्तलिपियों का उल्लेख किया है जो इस काल के प्रांतीय सुल्तानों के प्रश्रय में तैयार की गयीं। इसमें जौनपुर के हुसैन शाह शर्की के शासन काल में तैयार की गई कृति (जो हिन्दू प्रेमाख्यान 'लोर-चन्दा' पर आधारित थी), विजयनगर और तुर्की एक हस्तलिपि 'तारीफ ए हुसैनीशाही', कुमतागी के फारसी-हिंदी अभिलेख तथा पटना की तैमूरी-फारसी हतीफी पांडुलिपियां उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार मुगलों के आगमन के समय भारत के विभिन्न भागों में 'भारतीय ईरानी शैली' तथा 'पश्चिम भारतीय शैली' अपने विविध रूपों में प्रचलित-प्रसरित थी।

4.2 विभिन्न मुगल बादशाहों के काल में चित्रकला :

बाबर का काल:

बाबर ने अपनी युद्ध कौशल और अदम्य साहस से भारत में 1526 में मुगल साम्राज्य की स्थापना की। बाबर एक कुशल योद्धा एवं साहित्यकार के साथसाथ कला पारखी भी- था। उसकी आत्मकथा 'तुजुक ए बाबरी' के विवरणों से उसके कलाप्रेमी और 'प्रकृति की सुंदरताओं का सूक्ष्म निरीक्षक' होने का प्रमाण मिलता है। अपनी आत्मकथा में बाबर ने ईरान के विख्यात चित्रकार बिहज़ाद की चित्रकारी का उल्लेख करते हुए उसके प्रतिभा की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। बिहज़ाद के साथ ही बाबर ने एक अन्य चित्रकार मुजफ्फर की भी प्रशंसा की है। बिहज़ाद की प्रतिभा को देखते हुए कलाविदों ने उसे **'पूर्व का रेफैल'** कहा। बिहज़ाद की प्रसिद्धि का यह आलम था उसका अनुसरण करने वालों का एक अलग वर्ग ही बन गया, जिसका कालांतर में ईरान, मध्य एशिया और भारत की कला पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। बाबर की इच्छा थी कि वह बिहज़ाद को अपने राज्य में विधिवत आमंत्रित कर चित्रकला के विकास के लिए प्रयत्न करे, लेकिन समय के अभाव के कारण वह अपनी इच्छा को मूर्त रूप नहीं दे सका। फिर भी उसकी आत्मकथा के फारसी अनुवाद की अक्सर पांडुलिपि के चित्र उस शैली का प्रतिनिधित्व

करते हैं जो बाबर के काल में विकसित हुई।

हुमायूँ का काल:

यद्यपि इतिहासकारों ने हुमायूं को एक दुर्भाग्यशाली शासक कहा है जो आजीवन अपने अस्तित्व एवं सत्ता के लिए संघर्ष करता रहा, तथापि उसने कला विशेष तौर पर चित्र कला में अपनी रुचि प्रदर्शित की। समकालीन लेखक जौहर ने हुमायूं का जिक्र करते हुए लिखा है कि जब उसने कठिनाइयों के भंवर में फंस कर अमरकोट के किले में शरण ली थी, उसी समय उसने एक सुंदर फाख्ता को पकड़ कर चित्रकारों से उसका चित्र बनवाया था। दुर्भाग्य के क्रम में हुमायूं को एक बार फिर शेरशाह सूरी से पराजित हो कर ईरान के शाह तहमास्प के दरबार में शरण लेना पड़ा। लेकिन चित्रकला की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम साबित हुआ। शाह तहमास्प कला का महान संरक्षक था। उस के दरबार में इस समय दुनिया के श्रेष्ठ चित्रकार थे। यहां पर हुमायूं ने अनेक महत्वपूर्ण चित्रकारों जिनमें (आगा मीरक एवं मुजफ्फर अली प्रमुख थे) से संपर्क कर उनसे अत्यंत सुंदर चित्र बनवाए। ध्यातव्य है कि ये चित्रकार अपनी कला के माध्यम से बिहज़ाद की परंपरा को ही आगे बढ़ा रहे थे। इस प्रकार सौभाग्यवश भारतीय मुगल-चित्रकला की एक बेहतर पृष्ठभूमि तैयार हुई।

काबुल लौटने के पश्चात हुमायूँ ने सैयद अली और मंसूर नामक प्रमुख ईरानी चित्रकारों को अपने दरबार में आने का निमंत्रण दिया। यहीं पर इन चित्रकारों ने 'दास्तान ए अमीर हम्ज़ा' (इस्लामी परंपरा के वीरवर हम्ज़ा नामक पुस्तक (को चित्रित कराया गया। यह काम हुमायूं के काल में पूरा नहीं हुआ और अकबर के काल तक इस पर लगातार काम चलता रहा। सत्रह जिल्दों में 1400 चित्रों वाली यह चित्र योजना 1582 ई में अंततः पूरी हुई। बादशाह ने प्रसन्न होकर मीर सैयद अली को **'नादिरअस्र-उल-'** की उपाधि प्रदान की। और इस प्रकार मुगल चित्रकला की विधिवत शुरुआत हो गई। इसके बाद अनेक ईरानी चित्रकार भारत आए जिनमें अब्दुस्समद, मुल्ला फरुर एवम मुल्ला दोस्त

उल्लेखनीय हैं। पत्रकारों ने कुल मिलाकर 1375 चित्र बनाए। चूंकि इन चित्रकारों ने अपने चित्रों में ईरानी और भारतीय कला शैलियों का प्रयोग किया इसलिए इस कला शैली को **'इंडो पर्शियन शैली'** भी कहा गया।

अकबर का काल :

अकबर का काल समूचे मुगल काल में विशिष्ट काल माना जाता है। अल्पायु में गद्दी पर आसीन होने और निरक्षर होने के बावजूद अकबर ने अपने शासन काल में कला और संस्कृति के विकास के लिए अभूतपूर्व कार्य किए। ज्ञान प्राप्त करने की असीम लालसा से अकबर ने अरबी फारसी एवं संस्कृत की पुस्तकों का बड़ा पुस्तकालय स्थापित कराया। यही नहीं उसने ललित कलाओं में भी बहुत अधिक रुचि ली। चित्र कला के बारे में अकबर कहा करता था -'बहुत से लोग हैं जो चित्र कला से घृणा करते हैं। लेकिन मैं ऐसे लोगों को नापसंद करता हूं। मुझे लगता है कि जैसे एक चित्रकार के पास ईश्वर को पहचानने के विशेष साधन हैं, क्योंकि चित्रकार किसी वस्तु का चित्र बनाने में, जिसमें जीवन है और उसके अंग प्रत्यंग चित्रित करने में यह अनुभव करेगा कि वह अपनी कृति को जीवन प्रदान नहीं कर सकता, और इसीलिए विवश हो कर उसे जीवनदाता ईश्वर का स्मरण हो जाएगा और उसके ज्ञान में वृद्धि होगी।' (आईने अकबरी भाग 1, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ :115)

चित्र कला में अधिक रूचि के कारण अकबर ने चित्रकला का एक नया विभाग या कारखाना ही खोल दिया। इसका अध्यक्ष ख्वाजा अब्दुस्समद को बनाया गया। अकबर के दरबारी चित्रकारों ने भारतीय चित्रकारों को नई तकनीक का प्रशिक्षण दिया जिसके फलस्वरूप एक दुर्लभ एवं अद्भुत चित्रणयुक्त शैली आरंभ हुई। अब सौ से भी अधिक चित्रकार अकबर के दरबार में पूरे दक्षता के साथ काम करने लगे। इन में फारसी चित्रकारों में तबरेज के मीर सैयद, ख्वाजा अब्दुलस्समद, अकारिज़ा, फर्रुख बेग और जमशेद आदि प्रमुख थे जबकि भारतीय चित्रकारों में दसवंत और बसावन सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। दसवंत कहार जाति का था और दीवारों

पर चित्र बनाया करता था। उसकी कला से प्रभावित बादशाह अकबर ने उसे अब्दुलस्समद के संरक्षण में रख दिया। शीघ्र ही वह सभी चित्रकारों से बहुत आगे निकलते हुए अपने युग का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार बन गया। दुर्भाग्य से बाद में वह पागल हो गया और अंततः उसने आत्महत्या कर ली। बसावन नमक चित्रकार दसवंत का प्रतियोगी था। पृष्ठभूमि अंग प्रत्यंगों की बनावट, रंगों के प्रयोग, आकृति चित्रण और कई अन्य बातों में वह इतना निपुण था कि बहुत से कला मर्मज्ञ उसे दसवंत से अधिक पसंद करते थे।' (आईने अकबरी भाग 1, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ-113) उपर्युक्त चार चित्रकारों के अलावा अकबर के दरबार में तेरह और प्रथम श्रेणी के चित्रकार से थे जिनमें अधिकांश हिंदू थे। केशवलाल, माधव, मुकुंद, मुईकिन, फारुख, मधु, जगन, महेश, खेमकरण, ताराचंद, सांवलदास, हरबंस और राम। अबुल फजल उनकी कला के स्तर का उल्लेख करते हुए इस प्रकार कहते हैं :'सौ से अधिक चित्रकार कला के प्रसिद्ध ज्ञाता बन गए हैं और पूर्णता प्राप्त करने वालों या बीच वालों की संख्या बहुत विशाल है। यह विशेष रूप से हिंदुओं के बारे में सत्य है। उनके चित्र हमारी कल्पना शक्ति से परे हैं। वस्तुतः सारे संसार में बहुत कम ही उसके बराबर पाए जाते हैं।' इस काल में चित्रों पर कलाकार द्वारा हस्ताक्षर करने की पुरानी परंपरा प्रचलित थी। जिसके चलते इन चित्रकारों के नाम हमें आसानी से उपलब्ध हो सके हैं। अब हिंदू चित्रकारों ने भी फारसी तकनीक में निपुणता प्राप्त कर ली। और फारसी के मशहूर कवि निज़ामी की साहित्यिक रचनाओं को चित्रित करने में जुट गए। इसी क्रम में अमीर खुसरो की कृतियों और 'अकबरनामा' को चित्रित करने का कार्य भी शुरू किया गया।

अकबर के समय में संस्कृत के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया गया था। इनमें 'रज्मनामा', 'महाभारत' और 'रामायण' आदि के अनुवाद प्रमुख हैं। फारसी में अनुदित इन कृतियों पर चित्रकारी का अधिकांश काम हिंदू चित्रकारों ने ही किया। इस प्रकार अकबरयुगीन चित्रकला में भारतीय प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

यद्यपि फारसी का गहरा प्रभाव अब भी बना रहा। इस काल के चित्रों में ईरानी प्रकार की पृष्ठभूमि (सैरा) एवं प्रकृति चित्रण ऋणी है। प्राचीन पांडुलिपियों के पृष्ठों को चित्रांकित करने का ढंग, रूपांकित करने के लिए रंग पटल, पहाड़ी दृश्यों की पृष्ठभूमि, भवनों और कनातों के लिए नक्शेदार नमूने और कथावस्तु के साथ अल्पनाएं- ये सभी फारसी कला की वसीयत के रूप में प्रत्यक्ष है। परंतु आरंभ से ही इनमें यथार्थ से निकटता, ओजस्विता और सघनता रही है। इनमें प्रकृति के सूक्ष्म अवयवों की भी उपेक्षा नहीं की गई। और प्रत्यक्ष दृश्य को भिन्न प्रकार से प्रदर्शित किया गया है।' आगे चल कर भारतीय दृश्यों पर चित्रकारी करने के रिवाज से मुगल कला पर फारसी प्रभाव धीरे-धीरे कम पड़ने लगा। अब फिरोजी और लाल जैसे भारतीय रंगों का प्रमुखता से इस्तेमाल होने लगा। साथ ही फारसी शैली के सपाट प्रभाव का स्थान भारतीय शैली के वृत्ताकार प्रभाव ले लिया जिससे चित्रों में त्रिविमीय प्रभाव आ गया और चित्रों में वास्तविकता का पुट ज्यादा आ गया। इसी समय जब अकबर को जेसुइट फादर के द्वारा ईसा, मेरी और मोजेज के सुंदर चित्र उपहार में सौंपे गए तो उसे पाश्चात्य चित्रकला के बारे में भी जानकारी हुई। हालांकि यह यूरोपीय प्रभाव आगे की मुगल रचनाओं पर ज्यादा दिखाई पड़ता है।

जहांगीर के काल की चित्रकला:

मुग़ल इतिहास में जहांगीर का काल चित्रकला की दृष्टि से स्वर्णिम काल कहा जाता है। उसने अपने दरबार में बड़ी संख्या में चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया। जहांगीर खुद चित्रों का बहुत बड़ा पारखी था। अपनी आत्मकथा 'तुजुक ए जहांगीरी' में वह खुद लिखता है -'कला में मेरी रुचि और ज्ञान इस सीमा तक पहुंच चुका है कि यदि मेरे सम्मुख किसी भी मृत अथवा जीवित चित्रकार की कलाकृति प्रस्तुत की जाती है और मुझे चित्रकार का नाम नहीं बताया जाता है तो मैं तुरंत बता देता हूं कि यह अमुक व्यक्ति के द्वारा किया गया कार्य है यदि एक ही चित्र में विभिन्न कलाकारों के द्वारा विभिन्न आकृतियां बनाई गई

हों तो मैं यह बता सकता हूं की अमुक आकृति अमुक चित्रकार ने बनाई है। यदि एक चित्रकार ने चेहरा बनाया हो और उस चेहरे में आंखें और भौंहें किसी दूसरे चित्रकार ने बनाई हों तो मैं यह बता सकता हूँ कि अमुक चित्रकार ने मूल चेहरा और अमुक चित्रकार ने आंखें और भौंहें बनाई है।' इस कथन में अतिशयोक्ति की संभावनाओं के बावजूद कला के प्रति जहाँगीर की गहरी अनुरक्ति का पता तो चलता ही है।

जहाँगीर की रुचि छवि चित्र बनवाने की तरफ अधिक थी। इसी क्रम में उसने शाही परिवार के सदस्यों के, दरबार के उच्च पदाधिकारियों के धर्म, साहित्य, संगीत, कला आदि क्षेत्रों से संबंधित महत्वपूर्ण व्यक्तियों के छवि चित्र बनवाने आरम्भ किये। उसने अपने अग्रणी चित्रकार बिशन दास को फारस के शाह के, उसके अमीरों तथा उनके परिजनों के छवि चित्र बनाने के लिए फारस भेजा।

जहांगीरी एलबमों में सुरक्षित अनेक चित्रों के नामांकन बादशाह ने खुद अपने हाथों किए हैं। कुछ चित्रों में चित्रकार का नाम और निर्माण वर्ष भी अंकित किया गया है। छवि चित्रों को बनाने का काम शुरू में मनोहर, नन्हा और फार्रुख बेग को दिया गया। बाद में मनोहर, दौलत, अबुल हसन और बिशन दास ने अधिकतर एकल और सामूहिक छवि चित्रों का निर्माण किया। विलियम हॉकिंस और गिरोरो ने चित्रकला में जहांगीर की रुचि का जिक्र किया है। सर टॉमस रो ने एक प्रसंग में छवि चित्रण में बादशाह के अत्यधिक उत्साह का उल्लेख कर उल्लेख किया है। इस काल के उत्कृष्ट छवि-चित्रों की तारीफ करने से महान अंग्रेजी चित्रकार जोसुआ रेनॉल्ड्स भी अपने को रोक नहीं पाए।

बाद में छवि चित्रों के प्रति जहांगीर का आकर्षण इस हद तक बढ़ा कि वह अपने हर क्रियाकलाप और महत्वपूर्ण घटनाओं को अपने चित्रकारों से चित्रित कराने में रुचि लेने लगा। इसी क्रम में उसने अपने चित्रकारों को यह आदेश दिया कि वे सभी महत्वपूर्ण त्योहारों और सभाओं का चित्रात्मक विवरण तैयार करें और अच्छे एवं रुचिकर लगने वाले पशु पक्षियों, फूल पौधों को इन चित्रात्मक विवरणों में समायोजित

करें। इसी का नतीजा था कि जहांगीर की ताजपोशी और होली, आब पासी जैसे त्योहारों तथा बादशाह के जन्मदिन पर तुलादान जैसे अवसरों पर लगाए गए विशेष दरबारों के अनेक संग्रहणीय चित्र बनाए गए। जहांगीर के निर्देश पर दौलत ने अपने साथी चित्रकारों विशन दास, गोवर्धन और अबुल हसन के साथ-साथ खुद अपना भी एक बेहतरीन छवि चित्र बनाया। यह छवि चित्र फोलियो के हाशिए पर या हस्तलिखित पांडुलिपियों की पुस्तिका के नीचे पांडुलिपि निर्माता सुलेखकों के एकल या अन्य चित्रकारों या सहायकों के साथ मिलते हैं। कुल मिला कर ये चित्र उस काल के सामाजिक इतिहास की रुचिकर तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

जहांगीरकालीन चित्रकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे उस्ताद मंसूर - और अबुल हसन। स्वयं बादशाह ने इन चित्रकारों की तारीफ की है। इनकी प्रतिभा से प्रभावित बादशाह ने उस्ताद मंसूर को 'नादिर अल अस्र' और अबुल हसन को 'नादिरउज्जमा' की उपाधियां प्रदान की। उस्ताद मंसूर द्वारा बनाए गए दुर्लभ पशुओं, विरले पक्षियों और अनोखे फलों के चित्र जीवन से अनुप्राणित हैं। साइबेरिया के विरले सारस का चित्र और बंगाल के दुर्लभ फूल का चित्र मंसूर की महत्वपूर्ण चित्र कृतियां हैं। अबुल हसन प्रसिद्ध चित्रकार आका रिज़ा का बेटा था। मात्र तेरह वर्ष की उम्र में हसन ने 1600 ईसवी में ट्यूडर के सेंट जॉन की तस्वीर बनाई थी। वह लघु चित्रों की प्रत्येक शाखा -छवि चित्र, पशु पक्षी चित्रण, दरबारी समूह चित्रण में समान दक्षता रखता था ।उसकी रंग योजना अत्यंत प्रभावशाली, चित्ताकर्षक तथा चटखदार थी। चिनार के एक पेड़ पर असंख्य गिलहरियों का विभिन्न मुद्राओं में अंकन अबुल हसन की महत्वपूर्ण कृति मानी जाती है। यद्यपि चित्र के पृष्ठ भाग पर बाद में मंसूर और अबुल हसन दोनों के नाम अंकित मिलते हैं। जहांगीर के पश्चात मुगल चित्रकला का पतन प्रारंभ हो गया। विख्यात कलाविद पर्सी ब्राउन उचित ही कहते हैं कि 'जहांगीर की मृत्यु के बाद ही मुगल चित्रकला का भी प्राण निकल गया।'

शाहजहां का काल:

शाहजहां ने अपने शासनकाल में वास्तु कला में अधिक रूचि दिखाई फलतः चित्रकला उपेक्षित पड़ने लगी। व्यक्तिगत प्रोत्साहन के अभाव में चित्रकला का उत्तरोत्तर पतन होने लगा। इसके परिणामस्वरूप न केवल चित्रकारों की संख्या में कमी आई अपितु चित्रों की भावुकता, सजीवता और नैसर्गिकता समाप्त हो गई। चित्रों में अब बनावटीपन एवं जड़ता स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ने लगी। चित्रों में रंगों के सही संयोजन की जगह इस समय के चित्रों में भड़कीले रंगों तथा सोने का प्रयोग होने लगा। शांति स्वरूप के शब्दों में कहे तो 'रंग-द्रव्य एकता तथा सोने के निरर्थक उपयोग ने अति विशुद्धिकरण की वृद्धि करण की भ्रांति उत्पन्न कर दी, जिसमें पारंपरिक शैली के पतन का संकेत भी निहित था।

जहांगीर के काल के अधिकतर चित्रकार शाहजहां के समय में भी अपना काम करते रहे। इसीलिए इन दोनों शासकों के समय बनाए गए चित्रों में अंतर कर पाना प्रायः कठिन होता है। मीर हासिम, गोवर्धन, मोहम्मद नादिर, होनहार, बालचंद, अनूप, चतुर, विचित्र और चिंतामणि जैसे चित्रकार शाहजहांयुगीन प्रमुख चित्रकारों में से थे।

बादशाह शाहजहां को देवी संरक्षण में अपने चित्र बनवाने का शौक था इसीलिए इस समय ऐसे चित्रों की बहुतायत मिलती है। बादशाह का गुणगान करते हुए देवदूतों का स्वर्ग से उसके ताज को ले कर उतरने का चित्र बादशाह के दीर्घ जीवन की कामना करते और सर्वजेता होने की कामना करते देवदूत, सर्वोत्तम वस्त्र और आभूषण धारण कर खड़े हुए या मयूर सिंहासन पर बैठे हुए या अपने मनपसंद घोड़े पर सवारी करते हुए बादशाह के चित्र, इस प्रकार के चित्रों के प्रमुख उदाहरण हैं। इन सभी चित्रों में उसके सिर के पीछे एक प्रभापुंज भी दिखाई पड़ता है। एक अन्य चित्र में बादशाह शाहजहां अपने पिता जहांगीर और दादा अकबर के साथ है, जिसमें एक चंदोवे के तले अकबर अपने हाथ में ताज लेकर शाहजहां को सौंपते हुए दिखाई पड़ रहा है। रूप-चित्रकारी इस

समय भी लोकप्रिय थी और इसी क्रम में हरम की बेगमो जैसे नूरजहां और मुमताज महल के भी रूप-चित्र मिलते हैं। लेकिन चूँकि मुस्लिम नियमों और परंपरा के अनुसार हरम में किसी भी पुरुष चित्रकार का प्रवेश निषेध था अतः ऐसा लगता है कि ये चित्र कलाकारों ने दरबारियों द्वारा की जाने वाली रूप-चर्चा और अपने कलात्मक अनुमान के आधार पर ही निर्मित किए होंगे। इन चित्रों में यौवन काल के स्त्री सौंदर्य को प्रस्तुत करने का बेहतर प्रयास किया गया है। इसके बावजूद इस समय में रूप चित्रकारी में कोई भी अभिनव प्रयोग होता हुआ नहीं दिखाई पड़ता और विषयों को रूढ़ तरीके से लगातार दोहराया जाता रहा। राय कृष्णदास ने इस काल की कला पर अपनी एक टिप्पणी में कहते हैं कि 'इस काल की कला में अत्यधिक सूक्ष्मता, रंगों की दिव्यता, अंग प्रत्यंगों का प्रदर्शन और हावभाव-, मुद्राओं की स्पष्टता होने पर भी शाही दरबार के शिष्टाचार की जटिलता और शाही दबदबा इतना अधिक है कि इन चित्रों में एक प्रकार का सन्नाटा दृष्टिगोचर होता है। दूसरी तरफ बादशाह शाहजहां द्वारा वास्तु कला में अधिकाधिक रुचि लिए जाने और चित्रकारों को शाही संरक्षण से वंचित किए जाने के परिणामस्वरूप अब चित्रकार प्रांतीय राज्यों की तरफ अपना रुख करने लगे।

चित्रकला में विकेंद्रीकरण का एक परिणाम यह निकला कि चित्रकला में विविध जगहों की स्थानीय शैलियों का समावेश हुआ जिससे भारतीय चित्रकला में एक नए अध्याय की शुरुआत हुई। यद्यपि शाहजहां के काल में चित्रकला का पूर्ण रूप से पतन नहीं हुआ फिर भी यह मुगल चित्रकला के पतन की वह शुरुआत थी जिसका समापन सन्निकट दिखाई पड़ रहा था क्योंकि मुगल गद्दी का अगला सशक्त दावेदार औरंगजेब अपनी राजनीतिक परिस्थितियों के चलते कट्टर एवं रूढ़िवादी रुख अख्तियार किए हुए था।

औरंगजेब का काल:

औरंगजेब के काल (1658-1707 ई (.में मुगल चित्रकला अपने अंतिम

दौर में दिखाई पड़ती है। कट्टर इस्लामी नियमों में विश्वास रखने वाला बादशाह औरंगजेब सल्तनतयुगीन शासकों जैसा ही कला शून्य दिखाई पड़ता है। यह अलग बात है कि राजनीतिक परिस्थितियों के चलते औरंगजेब के पास कला के लिए न तो समय था और न ही संसाधन। लेकिन इन सबके बावजूद कला में उसकी अभिरुचि न होना ही इस समय के मुगलकालीन कला के पतन का प्रमुख कारक माना जाना चाहिए। अपने युद्ध अभियानों तक में औरंगजेब कला के प्रति और असहिष्णु बना रहा और कलात्मक धरोहरों को नष्ट करता रहा। इसी क्रम में बीजापुर के आसार महल के चित्रों को उसने कुरुप कर नष्ट कर दिया। यही नहीं सिकंदरा में अकबरी मकबरे की दीवारों पर की गई चित्रकारी पर उसने सफेदी पुतवा दी। कला के प्रति औरंगजेब के इस दुराग्रह ने मुगल चित्रकला का गला ही घोट दिया। यद्यपि अपने शासन काल के अंतिम दिनों में उसने चित्रकला में अपनी कुछ रुचि जागृत करने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप अच्छी गुणवत्ता वाले कुछ लघु चित्र बनाए गए जिसमें उसे शिकार खेलते हुए दरबार करते हुए या युद्ध करते हुए दिखाया गया है। लेकिन यह मुर्दे को जिंदा करने का एक निरर्थक प्रयास था क्योंकि समस्त अच्छे चित्रकार अपने लिए विभिन्न प्रांतों की राजधानियों में नया ठिकाना ढूंढ चुके थे और भारतीय चित्रकला के नए केंद्रों का विकास बड़ी तेजी से हो रहा था।

4.4 उत्तर मुगलकालीन चित्रकला

उत्तर मुगल काल में मुगल चित्रकला बड़ी तेजी से अपने समापन की तरफ बढ़ चली। फर्रूखसियर के शासनकाल (1713 से 1719) में चित्रकला को नए सिरे से प्रोत्साहित करने का एक और प्रयास किया गया। इस समय चित्रकारों द्वारा बड़ी संख्या में चित्र बनाए गए लेकिन वे चित्र अपने पूर्ववर्ती शासनकाल में बनाए गए चित्रों से हर प्रकार से निम्नस्तरीय थे। चित्रों में लंबाई और चौड़ाई का अनुपात एवं रंगों का संयोजन सब कुछ बेतरतीब था। इतिहासकार और कलाविद मोती चंद्र ने अपनी पुस्तक 'दि टेक्निक ऑफ मुगल पेंटिंग' में इस काल के चित्रों

के संदर्भ में लिखते हैं -'और इन चित्रों के दोषों को छिपाने के लिए बिंदु रूप से खुदाई के काम का अधिकता से प्रयोग किया जाने लगा'। मुहम्मद शाह ने भी अपने समय में चित्रकला को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया लेकिन यह सब अब बेकार था। कोई भी प्रयास इस तरीके का नहीं दिखाई पड़ता जिससे एक बार पुनः पहले के दौर की वापसी हो सके। प्रोफेसर ए. ल. श्रीवास्तव के अनुसार 'अठ्ठारहवीं सदी के मध्य भाग से चित्रों की रेखाकृतियों, उनके रंगों, दृश्यों के चुनाव, सौंदर्यानुभूति और अनुपात सभी में आमतौर पर कमियां आ गई। इन चित्रों के लिए वह यूरोपीय प्रभाव जो कि विशेषकर इस समय के प्राकृतिक दृश्यों और अनुभूतियों के चित्रण में स्पष्ट ही दीखता है, बहुत हानिकारक साबित हुआ।' चित्रकला की मुगल शैली किसी तरह लड़खड़ाते हुए शाह आलम (1756 से 1806 ईस्वी) के काल तक चलती रही आगे के मुगल बादशाह अपनी कमजोरियों के चलते अपना अस्तित्व बचाने के लिए ही संघर्ष करते रहे। उनके पास अब साहित्य, संस्कृति एवं कला के लिए सोच पाने तक का अवकाश नहीं था। इस तरह यह मुगल कला समाप्त हो कर बाजार की कला में तब्दील हो गई।

4.5 मुगलकालीन चित्रकला के पतन के कारण

मुगल चित्रकला को जब तक राजकीय संरक्षण मिलता रहा तब तक तो यह फलती फूलती रही लेकिन जैसे ही संरक्षण की जमीन खिसकी, यह कला औंधे मुंह गिर पड़ी। वस्तुतः यह चित्रकला पूरी तरह से दरबारी थी एवं बादशाहों के रुचि के अनुरूप ही यह संचालित होती रही। इस कला का जमीन से किसी भी तरह का कोई जुड़ाव नहीं था। यह जनता से पूरी तरह कटी हुई थी। अपने विषयों के चुनाव में तक में मुगल चित्रकला पूरी तरह आभिजात्य ही दिखाई पड़ती है। यही वजह है कि आम जनता के जीवन से जुड़े कोई प्रसंग इस कला में नहीं दिखाई पड़ते। राजवंश आते और खत्म होते रहते हैं लेकिन जनता निरंतर बनी बची रहती है जनता से जुड़ रहा यह कला दूर तक और देर तक अपना अस्तित्व कायम रख सकती थी। लेकिन इस चित्रकला ने राजवंश के

साथ चलना स्वीकार किया। ऐसे में राजवंश के पतन के साथ ही उसका पतन भी सुनिश्चित हो गया। प्रोफेसर राधेश्याम के शब्दों में कहें तो 'यह चित्रकला मुगलकालीन वैभव एवं विलास की श्रृंखला में जकड़ी हुई मनोरंजन या सजावट की वस्तु थी जिसका कोई आध्यात्मिक या सार्वजनिक पहलू नहीं था।' जो कला जनजीवन से, सार्वजनिकता से और आध्यात्मिकता से पूरी तरह कट जाए, उसका एक कदम भी आगे बढ़ पाना नामुमकिन होता है। मुगल चित्रकला के साथ भी यही हुआ और अन्ततः यह पूरी तरह धराशाई हो गई।

4.6 क्षेत्रीय चित्रकला का विकास

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ साथ चित्रकारों ने अपने लिए नये ठिकाने तलाशें इसी क्रम में वे उन प्रांतीय राज्यों की तरफ उन्मुख हुए जो दिल्ली से प्रायः स्वतंत्र हो चुके थे ऐसे राज्य थे अवध, हैदराबाद, मैसूर और बंगाल। 18वीं शताब्दी में राजस्थान विशेषकर जयपुर में चित्रकला की 'राजपूत शैली' का उद्भव हुआ। इस कला के प्रमुख संरक्षक चूंकि राजपूताना के राजवाड़े थे अतः उन्हीं के नाम पर इस शैली का नाम 'राजपूत शैली' पड़ गया। प्रख्यात कलाविद आनंद कुमार स्वामी ने सोलहवीं से उन्नीसवीं सदी के बीच की राजपूत कला को मुख्यतः दो भागों में बांटा है।

(1). राजस्थानी शैली

(2). पहाड़ी शैली

राजस्थानी शैली के अंतर्गत राजपूताने का पूरा क्षेत्र आता था जिसमें आज का पूरा राजस्थान राज्य और उत्तर प्रदेश के साथ मध्य प्रदेश का बुंदेलखंड अंचल भी आता है। राजस्थान में मेवाड़, जोधपुर, बीकानेर और बूंदी शैलियां विकसित हुई जबकि बुंदेलखंड क्षेत्र में दतिया और ओरछा प्रमुख केंद्र के रूप में उभर कर सामने आए। मेवाड़ शैली के केंद्र चित्तौड़, उदयपुर, नाथद्वारा, देवगढ़ आदि स्थल थे। मारवाड़ शैली का विकास मुख्य रूप से बीकानेर, किशनगढ़, अजमेर और जैसलमेर आदि स्थलों

पर हुआ। जयपुर शैली के केंद्र जयपुर, अलवर तथा आमेर थे जबकि बूंदी कोटा शैली के प्रमुख केंद्र नाम के अनुरूप बूंदी और कोटा ही थे। पहाड़ी शैली अपेक्षाकृत एक बड़े क्षेत्र में विकसित हुई इसके अंतर्गत जम्मू बसोली जम्मू, पूंछ, नूरपुर, बसोली, कांगड़ा और चंबा के राजदरबार अग्रणी दिखाई पड़ते हैं। महाराजा रणजीत सिंह (1803 ई से 1839 ई.) के काल में विकसित हुआ 'सिख स्कूल' भी इस पहाड़ी स्कूल की शाखा के अंतर्गत ही आता है। पहाड़ी शैली का प्रमुख केंद्र कांगड़ा होने के कारण कभी-कभी इस शैली को 'कांगड़ा शैली' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

राजपूत शैली की चित्रकला मूलतः लोककला थी जिसका संबंध आम जनता से था। कला में प्राचीन एवं नवीन तत्वों का समावेश हुआ फिर भी यह इन दोनों के समागम से उत्पन्न वह लोक कला थी जो सार्वजनीन थी। रेने ग्राउजेट महोदय ने अपनी पुस्तक **'दि सिविलाइजेशन ऑफ ईस्ट'** में मुगल शैली और राजपूत शैली के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है -'मुग़ल चित्रकारी सरकारी प्रकार की दरबारी चित्रकला है, जिसमें दरबार और ऐतिहासिक दृश्यों की बहुलता है। तकनीक के मामले में यह लघु चित्रों की चित्रकारी से विशिष्ट है जिसके साथ ही इसकी उत्पत्ति हुई थी। यह पांडुलिपियों के चित्रण और फ़ारसी सुलेखों की सुंदर रेखाओं से विकसित हुई। इसके विपरीत राजपूत शैली देसी मिट्टी की उपज थी। इसकी तकनीक लघु चित्रों से नहीं बल्कि भित्ति चित्रों से विकसित हुई थी। वस्तुतः राजपूत कला के लोक कला होने के पीछे राजपूतों में उस स्वाभिमान का होना भी था जिसके चलते हुए वे अपने ऊपर किसी का आधिपत्य स्वीकार नहीं करते थे और जिसकी रक्षा के लिए वे मर मिटने तक को तैयार रहा करते थे। राजपूत शासक अपने सरदारों के बीच समानता की भावना से काम करते थे जबकि मुगल शासक खुद को सभी सरदारों से श्रेष्ठ और अभिजात्य मानते थे। बहुत कुछ यह मनोवृति भी इनके चित्रकला के स्वरूप को स्पष्ट कर देती है।

राजपूत चित्रकला के उद्‌भव के संदर्भ में विद्‌वान एकमत नहीं है। इसके उद्‌भव के तार मुगल चित्रकला से जोड़ते हुए सर जदुनाथ सरकार कहते हैं -'न तो इसकी उत्पत्ति स्थानीय हिंदू है, और न इसका राजस्थान से कोई स्वाभाविक संबंध ही है। मुगल साम्राज्य के अधीन राजा शाही दरबार से प्रशिक्षित चित्रकारों को रख लिया करते थे और उनसे हिंदू महाकाव्यों, प्रेमाख्यानों तथा अन्य शुद्‌ध हिंदू विषयों पर चित्र बनवाया करते थे। लेकिन इन चित्रकारों की शैली और कला संबंध ही संबंधी आदर्श ठीक वही होते थे जो मुगल दरबार के चित्रकारों के होते थे। लेकिन इस मत को इस बिना पर अमान्य किया जा सकता है कि राजस्थान में प्रागैतिहासिक काल से चित्र बनाने की समृद्‌ध परंपरा प्राप्त होती है। चंबल की घाटी में स्थित मोरी, इंद्रगढ़, हिंगलाजगढ़ आदि स्थलों की गुफाओं से नाचती हुई मानव आकृति और प्राकृतिक दृश्यों के चित्र प्राप्त होते हैं। इन्हें राजस्थान का अब तक का ज्ञात सबसे पुराना चित्र माना जाता है। जहां तक मुगल कला से राजपूत शैली के संबंध का सवाल है, यह मुगल कला से प्रभावित जरूर हुई क्योंकि राजस्थान के राजपूत राज्य जब अधिकाधिक तादाद में अकबर की अधीनता स्वीकार कर लिए तब राजपूत चित्रकला मुगल दरबार से जुड़ गई और इस प्रकार इसका स्वरूप काफी कुछ परिवर्तित हो गया।

राजपूत शैली के चित्र भावपूर्ण होने के साथ-साथ अधिक आलंकारिक हैं। यह शैली अपने समय के समाज, धर्म और कला की प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करती है। प्रेम और भक्ति ऐसे विषय इसे लोक से जोड़ते हैं और इन अर्थों में यह कला जन कला का रूप धारण कर लेती है। ध्यातव्य है कि हिंदी साहित्य में यह युग रीतिकालीन कविता का युग था जिसका प्रमुख विषय नायक नायिका का प्रणय संबंध हुआ करता था। केशव दास ने 1591 ई में 'रसिकप्रिया' और 1601 ईसवी में 'कविप्रिया' की रचना की। ये रचनाएँ नायक नायिका भेद पर आधारित हैं। चित्रकार भी अपने समय के इस श्रेष्ठ साहित्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके और उन्होंने इन विषयों को ले कर व्यापक पैमाने पर चित्र

बनाने शुरू कर दिए। पुराने संस्कृत संस्कृत ग्रंथों 'अमरू शतक', 'गीत गोविंद', 'रसमंजरी', आदि का चित्रण इसी क्रम में किया गया। कलाकारों ने कृष्ण की जीवन लीला, जिसमें प्रणय और सौंदर्य की अधिकता है, को भी बड़े पैमाने पर अपने चित्रण का विषय बनाया। राधा और कृष्ण का प्रेम प्रसंग चित्रकारों के प्रमुख वर्ण्य विषय थे। कलाविद शांति स्वरूप के अनुसार -'एक हिंदू कलाकार देश की लोक गाथाओं के नाटककीय प्रसंगों का चित्रण केवल रंग और रेखाओं से ही नहीं करता था, बल्कि उसने भारतीय लोक जीवन के श्रेष्ठ भावनात्मक पक्ष को भी अभिव्यक्त किया था। उसने देवत्व को लोक जीवन के सामान्य धरातल पर उतार कर अपनी चित्रकारिता से उसका मानवीकरण किया। फलस्वरूप राजस्थानी चित्रकला में लोक जीवन की झांकी सहज ही प्राप्त होती है। चित्रों में उसके कार्यकलाप, सुख-दुख, रीति-रिवाज आदि समेत पूरे जीवन को धर्म और विभिन्न संस्कारों की पृष्ठभूमि के सहारे प्रस्तुत किया गया है। विषय ऐसा था जो लोक में पूरी तरह व्याप्त था और इसीलिए उसके द्वारा आसानी से स्वीकार लिया गया। मजदूर और किसान वर्ग के लोगों को भी इस धार्मिक विषय ने अधिक आकर्षित किया। कृष्ण और राधा के प्रेम को चित्रों में व्यक्त करने में सामान्यतया किसी प्रकार की अश्लीलता का आरोपण नहीं किया जा सकता था। फलस्वरूप विभिन्न मुद्राओं में इससे संबंधित चित्र बनाए गए और इस प्रकार यह कला लोक कला का रूप धारण करती चली गई। इन चित्रों में प्रकृति के विविध रूपों बसंत तथा वर्षा ऋतु का यथार्थ अंकन किया गया है अथवा मनुष्य, पशु तथा जंगली पशुओं के क्रियाकलापों एवम चेष्टाओं का उदात्त चित्रण है।

दृश्यों में अंकित पशु-पक्षी सामान्यतया आसपास के जनजीवन में पाए जाने वाले पशु-पक्षी हैं। मोर, फाख्ता, हिरण, गाय और बछड़े, वृक्ष तथा लताएं, छायादार झाड़ियां, नदीनाले-, जल कणों से लदे फंदे बादल, बरसती हुई पानी की बूंदे तथा उड़ते हुए सारस आदि दृश्यों का बड़ा मनोरम चित्रण किया गया है, और इन्हें सहज ही पहचाना जा सकता

है। इन दृश्यों का अंकन विशुद्ध देशी अंदाज़ में किया गया है जिसमें कि ये आम जन के मन को सहज ही अपनी तरफ लुभा लेते हैं। राजस्थानी और पहाड़ी दोनों शैलियों के चित्रों में अंकित वर्ण्य विषयों में एकरूपता मिलती है। ये दृश्य धार्मिक और आध्यात्मिक परिवेश वाले हैं। बालक कृष्ण की लीलाओं के दृश्य, राम के जीवन की विविध घटनाओं के दृश्य, महाकाव्य महाभारत के विविध दृश्य, नल-दमयंती की प्रेमकथा, चंडी या दुर्गा की युद्ध में विजय अथवा संगीत के भाव, मुख्य एवं सहायक राग रागिनियों का स्त्री पुरुष आकृतियों के रूप में अंकन किया गया है। राजपूत चित्रकार अपने चित्रों के विषय अधिकांशतया हिंदू पौराणिक गाथाओं और रामायण महाभारत जैसे महाकाव्यों से लिया करते थे। कभी-कभी ये परंपरागत श्रृंगारिक भावनाओं के चित्र भी बनाया करते थे। चित्रकला में इसी को 'राग रागिनियों' का नाम दिया गया है। राग रागिनियों के चित्रों को 'राग मालाएं' कहा जाता है। इस चित्रकला में नायक-नायिकाओं के साहित्य में वर्णित विविध प्रकारों का अंकन भी मिलता है। उदाहरण के तौर पर 'प्रोषित पतिका', परदेश गए पति के लिए प्रतीक्षारता नायिका, खंडिता, दर्प से युक्त अपकृत नायिका, वासकसज्जिता-संगीत प्रेमी का इंतजार करती सुसज्जित नायिका, अभिसारिका-मिलन स्थल की ओर तेजी से जाती हुई नायिका, मुग्धा-शर्मीली आकर्षक वधू आदि के दृश्य अत्यंत मोहक हैं। 'बारामासा' में खासतौर पर वर्षा एवं बसंत के दृश्यों का हृदयग्राही अंकन किया गया है। जयपुर के सेंट्रल म्युजियम में राग मालाओं के बहुत से चित्र सुरक्षित रखे गए हैं।

राजस्थान की विविध चित्र शैलियों के अंकन में प्रायः एकरूपता मिलती है फिर भी कुछ क्षेत्रीय विशेषताओं के आधार पर इन्हें एक दूसरे से अलग किया जा सकता है। मेवाड़ शैली में दरबार के दृश्य, राजपूत राजाओं के शिकार के दृश्य और राजा तथा राजकुमारियों के चित्र बनाए गए हैं। नुकीली नाक, बड़ी आंखें तथा आकृतियों की शरीर रचना में रेखीय अंकन, लाल तथा भूरे रंगों का संयोजन तथा लहरदार रेखाओं

वाले आकाश का अंकन मेवाड़ी चित्रों में गुजराती पोथी चित्रों की याद दिलाते हैं। किशनगढ़ शैली में लंबी एवं आम के आकार की आंखें एवं ठुड्डी, राधा कृष्ण की प्रमुख आकृतियों में मिलती है। नाथद्वारा शैली में धार्मिक शैली की प्रधानता दिखाई पड़ती है। मंदिरों श्रीनाथ जी की मूर्ति, वल्लभाचार्य संप्रदाय के उत्सवों और नाथद्वारा तथा कंकरौली के महन्थों के चित्र भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ दृश्यों में विभिन्न लोक गीतों एवं लोक गाथाओं जैसे राजस्थानी लोक गाथा 'ढोलामारु-' और 'रुक्मणी हरण' के दृश्य का अंकन भी किया जाता था।

मेवाड़ के राणा जगत सिंह के काल (1628 से 1652 ई.) में राजस्थानी चित्रकला को पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ, जिससे यह कला अपने उत्कर्ष को प्राप्त हुई। जगत सिंह के उत्तराधिकारियों राज सिंह (1652 से 1680 ई.) एवं जयसिंह (1680 से 1698 ई.) के समय में भी यह प्रचलित प्रसरित होती रही। इसके पश्चात यह कला मुगल शैली में ही समाहित हो गई।

पहाड़ी शैली

पहाड़ी शैलियों में स्थानीय लोक कलाओं का प्रभाव अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह काल क्षेत्रीय साहित्य के उत्थान का युग था। समाज पर कबीर दास, सूरदास, तुलसीदास, विद्यापति, उमापति, चंडीदास और केशवदास का प्रभाव अधिक था। इस शैली के अधिकांश चित्रों में भक्ति मार्ग के संतो की रचनाओं की प्रेरणा रही। इनकी चित्रकारी का मुख्य विषय प्रेम है जिसे राधा कृष्ण के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की गई। कलाकारों ने रोमांस तथा अन्य प्रसंगों को चित्रित करने के लिए कमल पुष्प, मयूर, बाज, मेघ तथा मुगल स्तंम्भों जैसे प्रतीकों का उपयोग किया है। इस शैली के प्रमुख केंद्रों में बसौली, जम्मू, नूरपुर, कांगड़ा, गुलेर और चंबा ख्यात हैं। कुल्लू और बसोली शैलियों में स्थानीय लोक कला का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है।

औरंगजेब द्वारा जब चित्रकला के क्षेत्र में उपेक्षा बरती जा रही थी तब कई कलाकार अपने आश्रय के लिए बसोली के दरबार में चले

गए। सन् 1586 ई. में कश्मीर विजय के पश्चात इस क्षेत्र के स्थानीय राजा अकबर के दरबार में प्रतिनिधि तौर पर उपस्थित रहा करते थे। इनके वापस अपने राज्य में लौटने के पश्चात बसोली चित्रकला में इनकी रूचियों का भी असर पड़ा। यही वजह है कि बसोली की कला में स्थानीय, मुग़ल तथा राजस्थानी शैलियों का सुंदर समन्वय दिखाई पड़ता है। बसोली कला के चित्रों में लाल, पीले, नीले एवं नारंगी रंगों का प्रयोग हुआ है। कला में चित्रित स्त्री पुरुषों के ललाट थोड़े तिरछे, नाक बड़ी तथा आंखें बदाम की आकृति जैसी हैं। स्त्रियों के शरीर पर मूल्यवान आभूषण उनके पारदर्शी वस्त्रों के पीछे दिखाई पड़ रहे हैं। इन चित्रों के पार्श्व में पेड़ पौधों और प्राकृतिक दृश्यों का अंकन इसकी खूबसूरती में चार चांद लगा देते हैं।

पहाड़ी शैली में कांगड़ा शैली का अपना विशिष्ट स्थान है। राजा संसार चंद (1774 से 1823 ई.) के संरक्षण में कांगड़ा शैली अपने पूरे उत्कर्ष पर दिखाई पड़ती है। संसार चंद्र ने चित्रकारों को अपना पूरा संरक्षण प्रदान किया। कांगड़ा शैली के केंद्र में नारी का सौंदर्य है। इस नारी सौंदर्य के इर्द-गिर्द ही पुरूष के विकास को दर्शाया गया है। अन्य चित्रों में प्रकृति प्रेम और ईश्वर प्रेम का चित्रण किया गया है। कांगड़ा शैली की तारीफ उसकी चित्र रचना, उसकी छवि और रंग चयन के चलते की जाती है। इस शैली के अंतर्गत बने चित्र समूहों में भागवत पुराण, गीत गोविंद, बिहारी का सतसैया, राग माला और बारहमासा के कथानको पर आधारित चित्र प्रमुख हैं। कुछ चित्रों का अंकन प्रख्यात लोक गाथाओं जैसे हीर रांझा, सोहनी महिवाल के कथानक पर किया गया है। इसके अतिरिक्त इस शैली में भी बड़े पैमाने पर छवि चित्रों का अंकन किया गया। इस प्रकार कांगड़ा शैली का चित्र कला के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है।

4.7 सारांश

अपने इस इकाई में पढ़ा कि मुगल चित्रकला का विकास किस

प्रकार हुआ। आपने इस इकाई में विभिन्न बादशाहो के काल में मुगल चित्रकला की प्रगति और प्रमुख चित्रकारों के बारे में भी पढ़ा। मुगल चित्रकला के पतन के क्या कारण थे और इसकी न्यू पर नींव पर किन प्रमुख चित्र कलाओं का उदय हुआ इसके बारे में भी हमने इस अध्याय में जानकारी प्राप्त की। आप यह भी जान सके कि राजपूत चित्रकला और पहाड़ी चित्रकला किस प्रकार मुगल चित्रकला से अनुस्यूत होते हुए भी पूरी तरह अलग एवं एक स्वतंत्र कला थी और कौन से ऐसे कारक थे जिसके बिना पर इन कलाओं को लोक कला का दर्जा प्रदान किया गया।

4.8 बोध प्रश्न

(1). अकबरकालीन कौन सा सर्वश्रेष्ठ चित्रकार अपने जीवन के अंतिम दिनों में पागल हो गया और अंततः उसने आत्महत्या कर ली?

(अ) जसवंत

(ब) बसावन

(स) मुकुंद

(द) खेमकरण

2. निम्नलिखित में से किस कला शैली को लोक शैली कहा जाता है?

(अ) मुगल शैली

(ब) राजपूत शैली

(स) पहाड़ी शैली

(द) राजपूत एवं पहाड़ी शैली दोनों

3. जहाँगीरकालीन चित्रकला पर एक टिप्पणी लिखिए।

4. किस आधार पर राजपूत चित्रकला को लोक कसे ली कहा जाता है? स्पष्ट कीजिए।

4.9 इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. Benjamin Rowland : The art and architecture of India
2. D Barrett and B Grey : paintings of India
3. Sarkar j n : studies in Mughal India
4. Krishna, Chaitanya : A history of Indian painting : Pahadi traditions
5. Kumar Swami, A K : Rajput paintings part 1 and 2
6. जी शिवराम, मूर्ति (अनुवाद-रश्मि कला अग्रवाल) भारतीय चित्रकला
7. चोपड़ा, पूरी बी .एन - .भारत का सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास, भाग 2
8. मजूमदार, राय चौधरी - भारत का इतिहास
9. वर्मा, हरीश चंद्र - मध्यकालीन भारत खंड 2 (1540 1761)
10. श्रीवास्तव, आशीर्वादी लाल : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
11. राधेश्याम: मध्यकालीन प्रशासन, समाज एवं संस्कृति
12. पांडेय, राजेंद्र : भारत का सांस्कृतिक इतिहास

इकाई-5

मुग़लकालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 हिन्दू समाज

5.3 मुस्लिम समाज

5.4 सामाजिक वर्गीकरण

5.5 स्त्रियों की स्थिति

5.6 वेश-भूषा

5.7 भोजन एवं अन्य रुचियाँ

5.8 मनोरंजन के साधन

5.9 परिवहन का माध्यम

5.10 आर्थिक स्थिति

5.11 कृषि एवं कृषक समाज

5.12 उद्योग-धन्धे

5.13 व्यापार एवं वाणिज्य

5.14 बैंक प्रणाली

5.15 टकसाल एवं मुद्रा

5.16 माप और तौल के पैमाने

5.17 सारांश

5.18 बोध प्रश्न

5.19 शब्दावली

5.20 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.21 इस खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेंगे कि

मुग़ल कला का समाज कैसा था?

मुग़ल कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति कैसी थी?

मुग़लकाल में लोगों का पहनावा, उनका वस्त्राभूषण एवं मनोरंजन के साधन क्या थे?

मुग़ल अर्थव्यवस्था के मुख्य आधार क्या थे?

मुग़लकालीन उद्योग, व्यापार एवं कृषि की क्या स्थिति थी?

मुग़ल काल में मुद्रा का प्रचलन किस प्रकार का था?

मुग़ल काल में लोगों के जीवनयापन का स्तर कैसा था?

5.1 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास का मध्य काल इस मायने में विशिष्ट है कि इस समय के शासकों के इस्लाम धर्मानुयायी होने के कारण इस्लाम धर्म को शासन के स्तर पर बढ़ावा मिला। शासकीय संरक्षण के चलते इस्लाम धर्म का पर्याप्त प्रसार हुआ। धीरे-धीरे इस्लाम धर्म भारतीय परिवेश को जबकि भारतीय परिवेश इस नये धर्म इस्लाम को स्वीकार ही नहीं बल्कि आत्मसात भी करने लगा था। कुछ शासकों द्वारा अपनाई गयी धार्मिक असहिष्णुता से बहुसंख्यक हिन्दू धर्म और नवागत इस्लाम

धर्म के बीच जो खाई समय-समय पर उत्पन्न हुई उसे इस समय चले सांस्कृतिक आन्दोलनों ने पाटने का महत्वपूर्ण कार्य किया। सूफी और भक्ति आन्दोलन की इसमें एक बड़ी भूमिका रही। इस क्रम में हिन्दू धर्म के कई कड़े बंधन टूटे। जबकि इस्लाम ने कई हिन्दू रीति-रिवाजों को बदले रूप में अपना कर अपना भारतीयकरण कर लिया। बाहर से आने के बावजूद मुसलामानों के वंशज अब खुद को भारतीय कहने में गर्व का अनुभव करने लगे। साहित्य, भवन-निर्माण, चित्रकला, संगीत आदि क्षेत्रों में यह मेल-जोल स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ता है। कुछेक अवरोधों को अगर दरकिनार कर दिया जाय तो मेल-जोल की प्रक्रिया अनवरत चलती रही और भारतीय संस्कृति की गंगा-जमुनी धारा की नींव क्रमशः मजबूत होती गयी।

मुग़लकालीन समाज

5.2 हिन्दू समाज

मुग़ल कालीन भारतीय समाज में मूलतः दो सम्प्रदायों के लोग थे। पहला सम्प्रदाय हिन्दुओं का था जो बहुसंख्यक था। जबकि दूसरा सम्प्रदाय मुसलमानों का था जो अल्पसंख्यक होने के बावजूद शासन में होने की वजह से बेहतर स्थिति में था। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था अपने परम्परागत रूप में इस काल में भी दिखाई पड़ती है। जिसमें सामाजिक विभेद और जातिगत ऊँच-नीच की भावना विद्यमान थी। ब्राह्मण और राजपूत वर्णक्रम और जातिक्रम में सबसे ऊपर थे और हिन्दू समाज के नेतृत्वकर्त्ता वर्ग की भूमिका में थे। समाज में कई अन्य जातियाँ-उपजातियाँ भी थीं। दलितों और अस्पृश्यों का जीवन दुष्कर था और इनके साथ ऊँची जातियों के द्वारा छुआ-छूत का व्यवहार किया जाता था। जातिप्रथा का पालन बहुत कड़ाई से किया जाता था और इसकी अवहेलना करने वाले व्यक्ति का जातिगत रूप से सामाजिक बहिष्कार किया जाता था।

हिन्दू धर्म में कई कुरीतियाँ प्रचलित थीं जिसमें बाल-विवाह, सती-प्रथा,

दहेज़-प्रथा, बहु विवाह (जिसमें एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ शादी कर लेता था) आदि प्रमुख थे। हिन्दू समाज में विधवाओं की स्थिति दयनीय ही नहीं अकल्पनीय और अमानुषिक थी एवं हिन्दू समाज द्वारा उन्हें अत्यंत हेय दृष्टि से देखा जाता था। प्रत्येक हिन्दू पिता अपनी बेटी की शादी कम उम्र में कर देता था। प्रचलित रिवाज के अनुसार छः से आठ वर्ष की उम्र में लड़कियों की शादी कर दी जाती थी। पहली बार अकबर ने इस आशय का आदेश जारी किया कि सोलह वर्ष से कम उम्र के लड़के और चौदह वर्ष से कम उम्र की लड़की की शादी न की जाय। किन्तु इस आदेश का समुचित पालन नहीं कराया जा सका। हिन्दुओं में विवाह अपनी जातियों में ही होते थे। अंतरजातीय विवाह का प्रचलन नहीं था। दहेज़ प्रथा प्रचलित थी और उस समय भी एक विकट समस्या थी। महाराष्ट्र के संत तुकाराम को अपनी बेटी की शादी के लिए पूरे गाँव के लोगों से चंदा एकत्रित करना पड़ा था। कुछ निम्न जातियों को छोड़ कर अन्य हिन्दू जातियों खासकर उच्च जातियों में विधवा विवाह का प्रचलन नहीं था। हिन्दुओं में उच्च अमीर वर्ग और राजाओं को छोड़ कर प्रायः एक विवाह की ही प्रथा थी। हिन्दुओं की विवाह प्रथा पारंपरिक थी जो अबुल फजल के अनुसार वैदिक पद्धति के अनुसार ही होती थी। रामचरितमानस, सूरसागर तथा पद्मावत में वैवाहिक समारोहों का मनोहारी वर्णन मिलता है। वैवाहिक अनुष्ठान पुरोहितों के द्वारा वैदिक मन्त्रोचारों के साथ कराया जाता था। विवाह समारोह खर्चीला होता था जिसका जिक्र कई विदेशी पर्यटकों तक ने किया है। हिन्दुओं में अंतिम संस्कार के रूप में दाह संस्कार किया जाता था। अवयस्क बच्चों एवं सन्यासियों का जल-प्रवाह किया जाता था। परलोक सिधारने वाले व्यक्ति का गोदान कराया जाता था जिसमें अन्न एवं वस्त्रादि का दान किया जाता था। गुरुनानक ने उस भारतीय प्रथा का उल्लेख किया है जिसमें किसी सम्बन्धी की मृत्यु की सूचना देते समय पत्र के उपरी भाग को फाड़ दिया जाता था। यह प्रथा आज भी प्रचलित है। शोक की अवधि तेरहवें दिन पूरी होती थी जिस दिन श्राद्ध का आयोजन किया जाता था। इस दिन उत्तराधिकारी द्वारा पुरोहित को दान दिए जाने के साथ-

साथ ब्राहमण भोज एवं सगे-सम्बंधियों को खिलाना पड़ता था।

5.3 मुस्लिम समाज

मुग़ल काल में मुस्लिम समाज अल्पसंख्यक होते हुए भी इसलिए विशिष्ट स्थिति में था क्योंकि यही वर्ग सता पर काबिज था। हालांकि यह वर्ग अब कई मायनों में हिन्दू वर्ग से प्रभावित होने लगा था। फिर भी इसकी अपनी कुछ मौलिक विशिष्टताएँ थीं जिसकी वजह से यह हिन्दू धर्म में समाहित नहीं हो पाया जैसा कि इसके पहले के आक्रान्ता शासक वर्गों जैसे यवन, हूण, शक, कुषाण के सन्दर्भ में हम देखते हैं कि वे धीरे-धीरे हिन्दू धर्म एवं समाज के ही अंग बन कर रह गए। इस समय मुसलामानों के मुख्य रूप से दो वर्ग थे। पहले वर्ग के अंतर्गत आते थे -जन्मजात और वंशगत मुसलमान। इस वर्ग में मुख्य रूप से विदेशी मुसलमान थे। इनमें तुर्क, अरबी, इरानी अफगान, मंगोल, उजबेग प्रमुख थे। ये खुद को शुद्ध रक्त का मानते थे और जातीय उच्चता का दावा करते थे। समाज के साथ-साथ प्रशासन में भी इनका पर्याप्त दबदबा रहता था। दूसरे वर्ग के अंतर्गत भारतीय मुसलमान आते थे। ये ऐसे मुसलमान थे जो पहले किसी और धर्म के अनुयायी थे और किसी कारण वश इन्होने अपना धर्म छोड़ कर मुस्लिम धर्म को अपना लिया हो। इन्हें पहले वर्ग की अपेक्षा हीन नजरिये से देखा जाता था और इन्हें वैसी इज्जत और सुविधाएं प्राप्त नहीं थीं जो जन्मजात मुसलामानों को प्राप्त थी। मुसलमानों में विविध धार्मिक सम्प्रदाय के लोग थे जैसे शिया, सुन्नी, शेख, सैय्यद, और सूफी।

इस समय के मुस्लिम समाज में संतान के रूप में पुत्र प्राप्ति की इच्छा प्रबल थी। अमीर परिवार में जन्मे पुत्र की खुशी में मनाये जाने वाले उल्लासपूर्ण समारोहों का विवरण इतालवी यात्री मनूची (1653-1708 ई.) ने दिया है। अकबर ने जन्मकुंडली बनाने की प्रथा हिन्दू परम्परा से ली। बच्चे के जन्म के छठें दिन 'छठी' का समारोह आयोजित किया जाता था। जन्म के सातवें दिन 'अकिकाह' के अवसर पर लड़के के लिए

दो और लड़की के लिए एक बकरा काटे जाने की प्रथा थी। बच्चा जब चार वर्ष चार महीने चार दिन का हो जाता था तब 'बिस्मिल्लाह' या 'मकतब' नामक धार्मिक समारोह किया जाता था। मुस्लिम समाज में 'खतना' या 'सुन्नत' का आयोजन भी धूम-धाम से किया जाता था।

उच्च और मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवारों में बहुविवाह की कुप्रथा प्रचलित थी। हालांकि सामान्य मुस्लिम परिवारों में सामान्यतया एक-विवाह की ही प्रथा थी। मुसलमानों में कोई भी व्यक्ति तीन से चार विवाह कर सकता था। मुस्लिम समाज में तलाक प्रथा का भी प्रचलन था। अकबर ने अपने समय में बहु विवाह प्रथा पर रोक लगाने के उद्देश्य से यह आदेश जारी किया कि साधारण आय वाले व्यक्ति को केवल एक विवाह करना चाहिए। यदि पहली औरत बाँझ हो तभी उसे दूसरी शादी के बारे में सोचना चाहिए। मुस्लिम समाज में वैवाहिक सम्बन्ध बनवाने की भूमिका 'कव्वाल' किया करते थे। मुग़ल बादशाहों में अपनी लड़कियों की शादी नहीं करने का चलन था। औरंगजेब ने इस परंपरा को तोड़ते हुए अपनी दो बेटियों मेहरून्निशा तथा जुबेदातुन्निशा की शादी कर दी थी। मुस्लिम समाज में शादी का पूरा अनुष्ठान काजी द्वारा कराया जाता था। शादी की रस्म में दूल्हे के लिए दुल्हन की औपचारिक स्वीकारोक्ति जरूरी होती थी। दूल्हे द्वारा 'मेहर' की घोषणा और कुरआन-शरीफ के पाठ से शादी का समापन होता था। विवाह समारोह आज की तरह ही प्रायः तड़क-भड़क वाले एवं खर्चीले होते थे। अनेक विदेशी पर्यटकों ने इस अवसर पर होने वाले धूम-धाम, मूल्यवान उपहारों की भेट, आतिशबाजी, नृत्य-संगीत का विस्तार से जिक्र किया है।

मुसलमानों के मृत्यु संस्कार हिन्दुओं से बिलकुल अलग थे। मरणासन्न व्यक्ति के मुख को मक्का की दिशा की ओर फेर दिया जाता था। उपलब्ध होने पर ऐसे व्यक्ति को मक्का के जमजम कूप का पवित्र जल पिलाया जाता था। मृत्यु शैय्या के निकट कुरआन के यासीन अध्याय का पाठ किया जाता था। बादशाहों के मृत्यु की घोषणा अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में की जाती थी। मृतक के सम्बन्धी एवं प्रियजन शोक व्यक्त

करने के लिए अपने कपडे फाड़ डालते थे एवं सिर पर धुल डालते थे या हाथों से सिर को पीटते थे। शव को फूल-मालाओं एवं सुगन्धित द्रव्यों से सुसज्जित कर कब्रिस्तान ले जाया जाता था। इन दिनों में अच्छा खाने एवं पहनने से परहेज किया जाता था। शाहजहाँ ने मुमताज महल की मृत्यु के पश्चात रंगीन कपडे पहनना, संगीत सुनना और नियमित भोज करना छोड़ दिया। शोक की अवधि चालीस दिन की होती थी। इस दिन मृतक के परिजन एवं सम्बन्धी कब्र पर जाते थे और मृतक के नाम पर गरीबों को खाना, कपडा एवं पैसे बाँटते थे।

हिन्दू मुस्लिम समाज में मेलजोल

भारत में मुसलामानों का आगमन आक्रान्ता के रूप में हुआ था। राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित होने के बाद मुस्लिम शासकों ने इस्लाम धर्म के प्रचार-प्रसार को अपना एक प्रमुख कर्तव्य माना। और इसी क्रम में उन्होंने विजित हिन्दुओं को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इसके अलावा हिन्दू सम्प्रदाय के अन्दर की कुरीतियों से घुट कर अपमानित जिंदगी बिता रहे इस समाज के दलित-दमित लोगों को इस्लाम की समानता एवं भ्रातृत्व भावना ने भी तेजी से आकृष्ट किया। नया धर्म स्वीकार करने के बावजूद ऐसे लोग अपनी पुरानी संस्कृति, परम्परा एवं रीति-रिवाज भूले नहीं थे। अपने पुराने मतावलम्बी बंधुओं से इन धर्म-परिवर्तित लोगों ने सम्पर्क बनाए रखा और तीज-त्यौहारों, सुख-दुःख में एक दूसरे का शामिल होना जारी रहा। इससे हिन्दू धर्म की जड़ता कुछ ढीली पड़ी जबकि मुस्लिम कट्टरता भी कुछ नरम पड़ी। अब एक नवीन मिली-जुली हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति एवं समाज का विकास हुआ जो भारतीय परिवेश की अपनी विशिष्ट निर्मिति थी। बादशाह अकबर ने अपनी नीतियों के द्वारा इस मेल-मिलाप को और बढ़ावा दिया और राजपूत राजघरानों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। उसने अपनी राजपूत रानियों को अपना व्रत एवं त्यौहार मनाने की पूरी छूट प्रदान की। यही नहीं अकबर ने अपने राज्य-काल में हिन्दुओं की महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियां की। स्वयं अकबर तिलक लगाता था,

तुलादान करवाता था और हिन्दू पर्वों को मनाता था। हिन्दू मुस्लिम बोलियों के समन्वय से उर्दू जैसी नफासत भरी भाषा का उदय हुआ। सैय्यद भाईयों में से एक भाई अब्दुल हसन सार्वजनिक तौर पर होली का त्यौहार मनाता था।

5.4 सामाजिक वर्गीकरण

मुग़लकालीन समाज मोटे तौर पर तीन सामाजिक वर्गों में विभक्त था। पहला वर्ग शासकों, सरदारों और सामंतों का था। इस वर्ग के अंतर्गत वे लोग आते थे जो समाज में प्रशासनिक या धार्मिक रूप से नेतृत्वकारी भूमिका निभाते थे। इसके अंतर्गत मुग़ल बादशाह, हिन्दू राजा, प्रशासनिक अधिकारी, मनसबदार, जागीरदार और धार्मिक नेता आते थे। ये लोग शानो-शौकत की जिंदगी बिताते थे। इन्हें अनेक तरह के विशेषाधिकार प्राप्त थे। ये लोग सुख-सुविधा से युक्त आलीशान महलों में रहते थे। बेहतरीन वस्त्राभूषण पहनते थे। सर्वोत्तम चीजें खाते पीते थे। इनके पास सेवकों की बड़ी फ़ौज होती थी। इन लोगों का अपना एक हरम होता था जिसमें वे अपने विलास के लिए एक से बढ़ कर एक सुंदरियों को रखते थे। प्रायः ये लोग नगरों में रहते थे एवं शाहखर्च करते थे। कुल मिला कर ये लोग तड़क-भड़क का आडम्बरपूर्ण जीवन जीते थे। कला, साहित्य, शिक्षा, शिल्प, संगीत के उत्कर्ष में इस वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

राज कर्मचारी, व्यापारी, व्यवसायी, भूमिपति और बुद्धिजीवी दूसरे वर्ग के अंतर्गत आते थे। उच्च वर्ग जैसा जीवन न होने के बावजूद यह वर्ग सुविधाभोगी वर्ग था जो आर्थिक सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करता था। राजकर्मचारियों को पर्याप्त वेतन मिल जाता था जिससे वे आराम की जिंदगी बिताते थे। राजकर्मचारी होने की वजह से इन्हें समाज में विशेष आदर सम्मान प्राप्त होता था। जमींदार लोग अपनी जमींदारियों गढ़ी या दुर्ग बनवा कर रहते थे। इनके पास अपनी छोटी सी सेना होती थी। बड़े जमींदार राजा के सामान होते थे। मुग़ल काल

में जमींदारों का एक सशक्त वर्ग बन गया था जो प्रभावी भूमिका निभाता था। मुग़ल काल में व्यापारियों का भी समाज में प्रमुख स्थान था। व्यापारियों की कई श्रेणियाँ थीं जैसे वोहरा अथवा सेठ, वणिक, चेट्टी, सर्राफ, बंजारे आदि। ये व्यापारी भी सुविधापूर्ण एवं शानो-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। कुछ व्यापारी असुरक्षा के भय से सामान्य जीवन जीते थे। आम तौर पर राज्य व्यापारियों की सुरक्षा प्रदान करता था लेकिन युद्ध या आक्रमण की स्थिति में इस वर्ग को नुकसान उठाना पड़ता था।

समाज में सबसे खराब स्थिति निम्न वर्ग की थी। किसान, उद्यमी, छोटे व्यवसायी, दस्तकार, सेवक, गुलाम और सामान्य जन इस तीसरे वर्ग में आते थे। सुविधाभोगी वर्ग द्वारा इनका जबरदस्त आर्थिक और सामाजिक शोषण किया जाता था। किसानों के दो वर्ग थे। पहला वर्ग 'पाही' कहा जाता था। ये ऐसे किसान थे जिनके पास अपनी भूमि नहीं होती थी और जो जमींदारों के खेत पर काम कर गुजारा करते थे। दूसरा वर्ग 'खुदकाश्त' कहा जाता था। ये ऐसे किसान होते थे जिनके पास अपनी जमीन होती थी। लेकिन इन पर लगान का बहुत अधिक बोझ होता था। अकाल और महामारी के दिनों में किसानों की स्थिति और खराब हो जाती थी। इन दिनों में किसान शहरों की ओर रुख कर लेते थे और वहां सेना में कुलीगिरी करने लगते या अपना कोई व्यवसाय शुरू कर देते थे। सामंतों के यहाँ सेवकों के रूप में भी इन्हें रोजगार मिल जाता था। जहां इन्हें अत्यंत कम मजदूरी पर काम करना पड़ता था और बेगारी भी करनी पड़ती थी। इनके रहन-सहन का स्तर अत्यंत साधारण था। इनके घर-द्वार, भोजन और कपडे आदि भी अत्यंत सामान्य होते थे।

5.5 स्त्रियों की स्थिति

मुग़ल काल में सामान्य तौर पर स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। मुस्लिम परम्परा में स्त्रियों का पर्दे में रहना अनिवार्य माना जाता

था। इस्लाम के भारत आने के बाद भी यह परम्परा जारी रही। यहाँ तक कि मुग़ल बादशाहों में सबसे उदार प्रकृति के माने जाने वाले बादशाह अकबर ने यह आज्ञा जारी की थी कि यदि कोई नौजवान औरत सडकों पर या बाजार में बिना घूंघट के पायी जाय तो उसे वेश्यालय में डाल दिया जाय और उसे वेश्या का पेशा अपनाने के लिए बाध्य किया जाय। हिन्दुओं ने अपनी स्त्रियों की सुरक्षा की दृष्टि से घूंघट एवं पर्दा प्रथा को अपनाया। इसके मूल में यह था कि औरत के साथ किसी भी तरह के दुर्व्यवहार को सम्बन्धित परिवार अपनी इज्जत से जोड़ कर देखता था जिसकी रक्षा के नाम पर पुरुष समाज ने स्त्रियों को पर्दे में रहने के लिए बाध्य किया। इससे स्त्रियों की स्वतंत्रता बाधित हुई और सही मायनों में कहें तो वह केवल पुरुषों की गुलाम बन कर रह गयी। हिन्दुओं के उच्च वर्ग में पर्दा प्रथा का कड़ाई से पालन किया जाता था। सोलहवीं शताब्दी के यात्री बारबोसा ने अपने यात्रा वृत्तांत में बंगाल की औरतों में पर्दा प्रथा का उल्लेख किया है। हालांकि हिन्दुओं के निम्न वर्ग में पर्दा प्रथा का चलन बिलकुल नहीं था और इनके घरों की महिलायें बिना किसी पर्दे के घर के बाहर आ-जा सकती थीं। इसका कारण यह था कि इस वर्ग को आजीविका के लिए कड़ा परिश्रम करना पड़ता था जिसमें स्त्री भी मुख्य भूमिका निभाती थी और इसी क्रम में उसे बिना परदे के आवाजाही की आजादी प्राप्त थी। अमीर और शाही घरानों जो मूलतः मुस्लिम समाज के थे, में तो स्त्रियों को पर-पुरुषो की छाया तक से कोसों दूर रखा जाता था और इस क्रम में पुरुषों और महिलाओं के बीच संदेशवाहक का काम करने के लिए हिजड़ों को रखा जाता था। केवल पर्दा प्रथा का पालन न करने पर किसी स्त्री को तलाक दिया जा सकता था।

हिन्दुओं के घर में विशेषकर राजपूतों में बेटियों का जन्म अभिशाप समझा जाता था और बेटियों के जन्म लेते ही उन्हें मार डालने की घृणित प्रथा प्रचलित थी। सामान्य तौर पर केवल बेटियों को जन्म देने वाली स्त्री को छोड़ कर व्यक्ति दूसरी शादी कर सकता था। शाही परिवार

में भी यह चलन था कि बेटियों के जन्म पर केवल महिलाओं को भोज दिया जाता था जबकि पुत्र के जन्म पर सभी दरबारी भोज में शामिल होते थे। मुस्लिम समाज में स्त्रियों को विलासिता की सामग्री समझा जाता था। बादशाहों के हरम में विवाहित स्त्रियाँ कम रखैलें ज्यादा होती थीं। अकबर के हरम में लगभग पांच सौ स्त्रियाँ रहती थीं। आर्थिक तौर पर मुस्लिम समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी और मुस्लिम स्त्रियाँ अपने पिता की संपत्ति में एक निश्चित अंश की हकदार थीं। मेहर अर्थात पारस्परिक वैवाहिक समझौते की व्यवस्था मुसलमान औरतों के लिए एक महत्वपूर्ण आर्थिक सुरक्षा थी। हिन्दू स्त्रियों को अपने पिता की संपत्ति में कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था। तथापि हिन्दू समाज में पत्नियों को अर्द्धांगिनी का दर्जा प्राप्त था। जहाँगीर अपनी आत्मकथा तुजुके-जहाँगीरी में लिखता है- 'हिन्दुओं में ऐसी मान्यता है कि कोई शुभ कार्य स्त्री की उपस्थिति या सहयोग के बिना पूर्ण नहीं हो सकता क्योंकि वह पुरुष की अर्द्धांगिनी समझी जाती है।'

हिन्दुओं में विधवाओं की स्थिति बहुत खराब थी। निम्न वर्ग के लोगों के समाज को छोड़ कर मध्यकालीन हिन्दू समाज में विधवा विवाह की प्रथा समाप्तप्राय हो चुकी थी। हिन्दू समाज में सती प्रथा का प्रचलन था। विधवा औरत को समाज द्वारा सती होने के लिए बाध्य किया जाता था। सती न होने वाली विधवाओं का जीवन दुष्कर होता था एवं समाज द्वारा उसे अत्यंत हेय नजरिये से देखा जाता था। विधवाओं के बाल कटवा दिए जाते थे। उन्हें रंग-बिरंगे कपडे एवं आभूषण पहनने की मनाही थी। यहाँ तक कि उन पर खान-पान का प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता था। कुछ मुग़ल शासकों के समय सती प्रथा को रोकने के लिए बाकायदा क़ानून बनाने का प्रयास किया गया। हुमायूँ के राज्य काल में भारत आये सीदी अली रईस (1553-1556 ई.) ने लिखा है कि सती होने के स्थान पर सुलतान के अधिकारी हमेशा यह देखने के लिए मौजूद रहते थे कि किसी विधवा को उसकी इच्छा के विरुद्ध जबरन न जलाया जाय। अकबर ने अपने नए पंथ दीने-इलाही में सती प्रथा की

निंदा करता है। अकबर ने अपने कोतवालों को आदेश दिया कि वे जबरन सती किये जाने को कड़ाई से रोकें। खुद अकबर ने कई बार हस्तक्षेप करके कई विधवाओं को सती होने से बचाया था। सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के यूरोपीय यात्रियों ने देलावेल, प्लेसार्ट और ट्रेवर्नियर ने इस तथ्य का जिक्र किया है कि किसी विधवा को जलाए जाने के पहले गवर्नर की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। जहाँगीर और शाहजहाँ ने इस क़ानून में कोई परिवर्तन नहीं किया किन्तु जहाँगीर को जब यह पता चला कि हिमालय की तराई क्षेत्र में धर्म परिवर्तित मुसलमानों ने सती प्रथा जैसी कुप्रथा को जारी रखा है तो उसने इस अपराध के लिए मृत्यु दण्ड की व्यवस्था कर दी। औरंगजेब ने अपने समय में 1664 ई. में एक आदेश जारी कर सती प्रथा पर रोक लगा दिया। यह अलग बात है कि उसके आदेशों का हिन्दू समाज पर ख़ास असर नहीं पड़ा और पहले की तरह ही ये कुप्रथा हिन्दू समाज में जारी रही। सती प्रथा के अतिरिक्त इस काल में राजपूतों में जौहर प्रथा का भी प्रचलन था। युद्ध क्षेत्र में जब पति के विजय की संभावनाएं समाप्त हो जाती थीं तब राजपूत स्त्रियाँ मुस्लिम शासकों से अपनी इज्जत बचाने के लिए अपना प्राणोत्सर्ग कर देती थीं। वे जलती चिता में जल कर भस्म हो जाती थीं। इस आत्म बलिदान को गौरवपूर्ण माना जाता था। मुग़ल शासकों ने जौहर प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रयत्न किये जो प्रायः असफल साबित हुए। हीन अवस्था के बावजूद मुग़ल काल में कई ऐसी महिलाएँ हुईं जिनकी समाज में महत्वपूर्ण स्थिति थी। लेखन के अलावा शासन-प्रशासन में कुछ स्त्रियों ने अत्यंत महत्वपूर्ण काम किए। मसलन हुमायूँनामा की लेखिका गुलबदन बेगम और मुनिसाल अखा की लेखिका जहाँआरा का नाम इस समय के साहित्यकारों में ऊँचा था। देवल रानी, मीरा बाई, सलीमा सुल्ताना, नूरजहाँ, सितिउन्नसा (जहाँआरा की शिक्षिका) और जेबुन्निशा इस समय की प्रमुख कवियित्रियाँ थीं। इस समय के भक्ति आन्दोलन में मीरा बाई के अतिरिक्त तमिल महिला कुमारी मोल्ला, मराठी महिला मुक्ति बाई और चैतन्य की उपासिका माधव बाई का नाम सम्मान से लिया जाता था। प्रशासनिक क्षेत्र में गोंडवाना की चन्देल रानी दुर्गावती

और अहमदनगर की रानी चाँद बीबी का महत्वपूर्ण स्थान था। बादशाह जहाँगीर के समय तो शासन की वास्तविक शक्ति बेगम नूरजहाँ के हाथों में केन्द्रित थी। उत्तराधिकार के युद्ध में औरगजेब की पुत्रियों ने संभावित उत्तराधिकारियों की तरफ से परोक्ष रूप से भाग लिया। अपने पति राजाराम की मृत्यु के पश्चात ताराबाई ने मराठा प्रशासन की बागडोर अपने हाथों में न केवल केन्द्रित कर लिया अपितु मुग़ल आक्रमणों का साहसपूर्ण ढंग से सामना किया और बादशाह औरंगजेब के मंसूबों को धराशायी कर दिया। लेकिन समाज में ये महिलायें अपवादस्वरुप ही थीं और इस समय स्त्रियों की स्थिति प्रायः भोग्या की ही बनी रही।

5.6 वेश-भूषा

मुग़ल काल में आम जनता का जीवन अत्यंत कष्टमय था जिसकी प्रतिछवि आम जन के वेश-भूषा पर साफ़ तौर पर दिखाई पड़ती है। मजदूर और किसान वर्ग के लोग प्रायः लंगोट पहना करते थे जिसका कपड़ा अधिकतम घुटने तक लटका होता था। जाड़े के मौसम में ऐसे लोग आग के पास बैठ कर या घुटनों में अपना सिर रख कर रात किसी तरह बिताते थे। बाबर अपनी आत्मकथा में लिखता है कि 'भारत में किसान और निम्न वर्ग के लोगों के पास पर्याप्त कपड़े तक नहीं थे।' भारत आने वाले अनेक यूरोपीय यात्रियों मसलन राल्फ फिच, सलबांके, दिलेत आदि ने लिखा है- 'निम्न वर्ग के पास जरूरत के साधारण कपडे तक नहीं है, गर्म कपड़ों की तो बात ही अलग है।' रूसी यात्री निकितिन लिखता है कि 'दक्कन के लोग नंगे पाँव रहते हैं।' उत्तर भारत में लोग धूप से बचने के लिए अपने सिर पर पगड़ी बाँधा करते थे। एक तरफ आम जन के पास जरूरत तक के कपडे नहीं थे वहीँ दूसरी तरफ समृद्ध तबके के लोग कपड़ों पर काफी खर्च किया करते थे। अमीर मुसलमान सलवार और कुरता पहना करते थे। कुरते के उपर वे छोटा जैकेट्नुमा कोट पहन लेते थे। घुटनों तक लटकता 'काबा' या लंबा कोट उनका ऊपरी वस्त्र था। धनी लोग अपने कंधे पर रंगीन ऊनी चादर लेकर चलते

थे। कुछ अमीर अपने कमर में रंगीन जरी वाले कपडे भी बांधते थे। मुग़ल बादशाह फर के रोयेंदार कोट पहनते थे। सैनिकों के लिए कोई वर्दी की व्यवस्था नहीं थी ऐसे में वे अपने अस्त्र-शस्त्र के जरिये ही जनता में पहचाने जाते थे।

मुग़ल बादशाह कपड़ों में काफी रुचि रखते थे। अकबर ने अपने पोशाक तैयार करने के लिए कई कुशल दर्जियों को नियुक्त कर रखा था। आईन-ए-अकबरी में ग्यारह प्रकार के कोट का जिक्र है जिसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'टकन चिया पेशवाज' कोट था। रोयेंदार कोट 'शाह आजीदाह' का विशेष महत्त्व था। फादर रूडोल्फ ने अकबर को बारीक और मुलायम रेशम की धोती पहने हुए देखा था। फादर मान्सरेट (1580-82 ई.) ने अकबर की पोशाक का जिक्र करते हुए लिखा है- 'बादशाह सलामत की पोशाक रेशम की थी, जिस पर सोने का सुन्दर काम था। उसकी पोशाक घुटनों तक झूलती रहती थी उसके नीचे पूरे पाँव का जूता होता था। वे मोती और सोने के जेवर भी पहनते हैं।'

महिलाओं के पास पोशाक के रूप में ज्यादा विकल्प नहीं थे। वे पारंपरिक वस्त्र ही धारण करती थीं। हिन्दू औरतें साड़ी पहनती थीं जिसे वे कमर पर लपेट कर सिर पर ओढ़ लेती थीं। अपने वक्ष को ढकने के लिए वे अंगिया धारण करती थीं। इस समय के कुछ चित्रों में स्त्रियों को ओढ़नी के साथ, पीठ पर बन्द वाली चोली पहने दिखाया गया है। ये स्त्रियाँ घाघरा भी पहनी हैं जिनमें किनारी के साथ-साथ कशीदाकारी भी है। बंगाली स्त्रियाँ 'कंचुकी' या 'चोली' पहनती थीं। मुस्लिम स्त्रियाँ सलवार और कमीज पहनने के साथ अपने सिर को चादर या दुपट्टे से ढके रहती थीं। ऊपर से वे बुर्का पहन लेती थीं। धनी घरों की महिलायें सोने-चांदी की कशीदाकारी की गयी दुपट्टे से अपना सिर ढकती थीं। कुछ स्त्रियाँ जूतियाँ भी पहनती थीं।

समृद्ध घरों की स्त्रियाँ अपने शरीर के प्रत्येक अंग को आभूषणों से सजाने का प्रयास करती थी। अबुल-फजल ने आईन-ए-अकबरी में 37 गहनों का उल्लेख किया है। स्त्रियाँ कानों में कर्ण-फूल, पीपल पत्ती और

मोर-भांवर जैसे गहने पहनती थीं। नाक में गहने धारण करने की शुरुआत संभवतः मुसलामानों ने ही शुरू की थी। 'नथ', 'बेसर' और लौंग के रूप में जवाहरात को स्त्रियाँ नाक में पहनतीं थीं। गले में हार धारण करने की परम्परा थी जो सोना, मोती या अन्य कीमती पत्थरों का बना होता था। हाथ के उपरी भाग में बाजूबन्द, कलाई में कंगन एवं चूड़ियाँ और अँगुलियों में अंगूठियाँ पहनी जाती थीं। पावों में पायल, घुँघरू और बिछुआ धारण किया जाता था। इस समय पुरुष भी आभूषण पहनते थे। हिन्दू पुरुष खासकर राजपूत कानों में बालियाँ, हाथों की अँगुलियों में अंगूठियाँ एवं गले में हार धारण करते थे। अबुल फजल ने इस समय के पुरुष के सजने का विवरण देते हुए लिखा है- 'उचित रूप से रखी गयी दाढ़ी, साफ़-सुथरा धुला शरीर ललाट पर तिलक, शरीर पर सुगन्धित तेल या इत्र, कानों में स्वर्ण बाली, उचित पोशाक (काबा) जिसकी गाँठ बायीं ओर हो, पगड़ी का सुनहला छोर आगे की ओर 'मुक्ता' (कारा) टंका हो, हाथ में म्यान में पड़ी तलवार कमर में बंधी कटार, अँगुलियों में अंगूठी, पैरों में जूते और मुंह में पान की गिल्लौरी।' औरगजेब को छोड़ कर प्रायः सभी मुग़ल बादशाह अपने को बेहतर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया करते थे।

5.7 खान-पान एवं अन्य रुचियाँ

हिन्दुओं और मुसलमानों का रोजमर्रा का खान-पान सामान्यतया एक जैसा ही था। मुसलमान मांसाहारी भोजन करते थे जबकि हिन्दू लोग शाकाहारी भोजन को वरीयता देते थे। कश्मीर, पंजाब, और बंगाल के ब्राहमण भी मांस-मछली खाते थे। राजपूतों एवं निम्न वर्ग में मांसाहार का देशव्यापी प्रचलन था। कई मुग़ल बादशाहों ने कुछ विशेष दिनों में मांसाहार का निषेध कर रखा था। हुमायूं का यह मानना था कि सज्जन व्यक्ति के लिए गोमांस खाना उचित नहीं है। अकबर ने शुक्रवार, रविवार और कुछ ख़ास दिनों में मांसाहार करना बंद कर दिया। जहांगीर ने अपने पिता के जन्मदिन गुरूवार को पशु बलि पर प्रतिबन्ध लगा दिया। मुग़ल बादशाहों की खान-पान में रूचि थी। इसी क्रम में खाने के लिए

विभिन्न प्रकार के फल-फूल विभिन्न जगहों से मंगाए जाते थे। मसलन काबुल और बदक्शा से तरबूज, समरकंद से अंगूर और सेब, याज्द से अनार, यूरोप से अन्नानास, काबुल से बेर और जामुन मंगाए जाते थे। बादशाह को सूखे मेवे भी पसंद होते थे जिनमें नारियल, खजूर, मखाना, कमलगट्टा, अखरोट, पिस्ता आदि शामिल होते थे। कुछ बादशाह रोज गंगा जल पीते थे जिसे वे स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद एवं पवित्र मानते थे।

उच्च वर्ग के लोग रोज के खान-पान में गेहूं का आटा, चावल और सब्जी का प्रयोग करते थे। शाकाहारी होने की वजह से हिन्दुओं के खाने में दाल, दूध, दही, मक्खन, घी, मलाई, तेल आदि का अधिकाधिक प्रयोग होता था। चावल के साथ बादाम, किशमिश आदि मिला कर पुलाव तैयार किया जाता था। मुसलमान लोग पशु-पक्षियों का मांस खासकर गोमांस, बकरे का मांस एवं मछली खाया करते थे। मिष्ठान्न में हलवा एवं शक्कर मिश्रित फलूदा का प्रचलन था। आम लोगों का जीवन दुष्कर होने की वजह से उनमें सामान्य भोजन का चलन था। चावल और दाल को मिला कर तैयार खिचड़ी का चलन ज्यादा था। उत्तर भारत के लोग गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरा या मक्के की रोटियाँ खाते थे। जलपान के रूप में लोग शाम को भुने हुए अनाज एवं चने लेते थे। दक्षिण के लोगों का मुख्य भोज चावल था।

लोग प्रायः मादक वस्तुओं का सेवन भी करते थे। शराब की कई किस्में थीं। ताड़ी, महुआ, खेरा बधवार और जागरे प्रमुख किस्में थीं। औरंगजेब को छोड़ कर सभी मुग़ल बादशाह शराब का सेवन करते थे। इस समय अफीम खाने का प्रचलन भी था। खासकर युद्ध के समय राजपूत अफीम सेवन की मात्रा दुगुनी कर देते थे जिससे वे युद्ध में बहादुरी से लड़ सकें। हुमायूं और जहांगीर जैसे बादशाह भी अफीम का सेवन करते थे। पुर्तगालियों ने 1605 ई. में भारत को तम्बाकू से परिचित कराया। कुछ ही दिनों में यह आम लोगों में लोकप्रिय हो गया। लोगों को तम्बाकू और भांग की आदतों एवं नुकसान से बचाने के लिए जहांगीर ने 1617

ई. में निषेध क़ानून जारी कर दिया। लेकिन इस क़ानून का लोगों पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ा। चाय और कहवा का सेवन इस समय नशे की तरह किया जाता था।

5.8 मनोरंजन के साधन

मुग़ल काल में खेल-कूद, तीज-त्यौहार, नृत्य-संगीत एवं शिकार ही मनोरंजन के मुख्य साधन थे। कुछ खेल धनी वर्ग से लेकर अमीर वर्ग तक में सामान रूप से लोकप्रिय था। ऐसे खेलों में चौपड़, शतरंज, ताश आदि मुख्य थे। बच्चे गोटी, लुकाछिपी, भाग-दौड़ चोर-सिपाही और भेड-बकरी जैसे खेल खेलते थे। शतरंज का जनक भारत को ही माना जाता है। प्राचीन काल से ही यह भारत के लोगों का पसन्दीदा खेल था। मुग़ल काल का यह मुख्य खेल था। अकबर खुद शतरंज खेलता था। अबुल फजल शतरंज का इस जमाने का मशहूर खिलाड़ी था। मुग़ल सामंतों में यह खेल अधिक चलन में था। शतरंज की तरह ही चौपड़ भी भारत के पुराने खेलों में से एक है जो मुग़ल काल में भी खेला जाता था। अकबर ने इस खेल में कुछ सुधार कर नए नियम बना दिए। औरंगजेब की बेटी जेबुन्निशा को यह खेल प्रिय था। खाली समय में अपनी सहेलियों के साथ वह प्रायः चौपड़ खेला करती थी। 'चौगान' भी इस समय का एक प्रचलित खेल था जिसे बादशाह तक खेलते थे। अकबर ने इस खेल के लिए रोशनी वाली गेंद का आविष्कार किया जिससे रात में भी यह खेलना संभव हो सका। फतेहपुर सीकरी एवं आगरा में इस खेल के मशहूर मैदान थे। ताश का खेल मुग़ल बादशाहों तक को प्रिय था और वे इसे खेलने में माहिर होते थे।

जनसाधारण में गोटी का खेल बहुत लोकप्रिय था। जमीन पर या चौकी पर वर्गाकार आकृति के बीच लकीरें खींच कर उसमें गोटियाँ रख कर यह खेल खेला जाता था। तीन, नौ, बारह या सोलह गोटियों को आमने-सामने रख कर दो पक्षों के बीच यह खेल खेला जाता था। 'मुग़ल-पठान', 'लाम-तुर्की', 'भाग-चल', 'भाग-चक्कर', 'छब्बीस गोटी', और 'भेड़-

बकरी' गोटी के खेल के इस समय के प्रमुख प्रकार थे। मैदानी खेलों में कुश्ती, पतंगबाजी, झूठी-लड़ाई, वृक्षों पर चढ़ना-उतरना और कबड्डी खेला जाता था। सपेरे साँप दिखा कर लोगों का मनोरंजन किया करते थे। ये बीन बजा कर सांपो को नचाने का अभिनय भी करते थे। कुछ लोग बन्दर लेकर घूमते थे जिनके इशारे पर बन्दर नाचता और तमाशे दिखाता था। नट लोग घूम-घूम कर रस्सी पर संतुलन साध कर चलने आदि का खेल दिखाया करते थे। तीरंदाजी, तलवारबाजी, गोला फेकना, भाला फेंकना आदि में भी जनमानस की रूचि थी। जानवरों की लड़ाई, मछली मारना, कबूतर उड़ाना भी आम जन की रूचि के विषय थे।

उच्चवर्गीय मुग़ल रईसों में घुड़सवारी मनोरंजन का मुख्य साधन था। घुड़सवारी के लिए विशेष प्रकार के घोड़े अरब, यमन, ओमान जैसे देशों से मंगाए जाते थे। शिकार पर जाना भी मनोरंजन के अन्तर्गत ही आता था। बादशाहों, अमीरों के अतिरिक्त आम जन भी शिकार के लिए जाया करते थे। किन्तु कुछ विशेष जीवों जैसे हाथी, शेर, बाघ, जंगली भैंसा आदि का शिकार उच्च वर्ग के लोग या बादशाह ही कर सकते थे। मुग़ल बादशाह लाव-लश्कर के साथ अक्सर शिकार पर जाया करते थे। शिकार के लिए कुत्तों, हाथी, चील, बाज आदि का उपयोग किया जाता था और इस विशेष अवसर के लिए इन जीवों को प्रशिक्षित किया जाता था। हाकिन्स लिखता है कि बादशाह जहांगीर ने शिकार खेलने के उद्देश्य से तीन हजार हिरन, चार सौ चीता एवं चार हजार बाज पाल रखे थे।

तीज-त्यौहार एवं मेले भी मनोरंजन के माध्यम थे। इसीलिये लोग बड़े धूम-धाम से पर्वों को मनाते थे। दशहरा के अवसर पर गाँव-गाँव में राम-लीलाएं खेली जाती थी। यह पूरे देश में बड़े उत्साह से मनाया जाता था। राजपूत शासक विजया दशमी के दिन अपने हथियारों की पूजा करते थे। शाही हाथियों और घोड़ों को इस दिन नहला-धुला कर बादशाह के सामने पेश किया जाता था। दीपावली का पर्व आज की तरह ही मनाया जाता था। लोग अपने घरों को घी या तेल के दिए रख कर

रोशनी से सजाते थे। बच्चे आतिशबाजी उड़ाते थे। कुछ लोग इस दिन जुआ भी खेलते थे। होली हिन्दुओं का प्रमुख पर्व था। लोग एक-दूसरे पर रंग डालते थे। मध्यान्ह के बाद लोग एक दूसरे से मिलने जाते थे और एक दूसरे को अबीर गुलाल लगाते थे। होली के दिन लड़कियाँ और औरतें भी एक दूसरे के घर होली खेलने रंग लगाने और गुलाल लगाने के लिए जाती थीं। इस दिन प्रायः सभी घरों में तरह-तरह के पकवान बनाए जाते थे और अतिथियों को आदर के साथ खिलाया जाता था। रक्षाबंधन भी हिदुओं का एक प्रमुख एवं पवित्र पर्व था। इस दिन बहनें अपने भाईयों की कलाई पर राखी बांधती थीं। कहीं-कहीं पुरोहित भी अपने यजमानों को राखी बांधते थे। बादशाह अकबर अपनी कलाई पर राखी बंधवा कर यह पर्व मनाता था। जहांगीर ने आदेश दिया कि हिन्दू अमीर और मुखिया मेरी कलाई पर राखी बाँधा करें। राम का जन्मदिन रामनवमी एवं कृष्ण का जन्म दिन कृष्ण जन्माष्टमी भी धूम-धाम से मनाया जाता था। इसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी में भी मिलता है। चन्द्र-ग्रहण एवम सूर्य-ग्रहण के दिन हिन्दू लोग उपवास रहते थे एवं नदियों में स्नान करते थे। गंगा स्नान के लिए लोग बनारस, प्रयाग एवं हरिद्वार जाते थे।

मुग़ल काल मुसलमानों के पर्व वही थे जो आज भी प्रचलित हैं। मुहर्रम, ईद-उल-फितर, ईद-उल-जुहा, सबे-बारात जैसे पर्व मुस्लिम लोग बड़े उत्साह से मनाते थे। मुहर्रम के दिन ताजिये का जुलूस निकाला जाता था और मातम मना कर गरीबों को खैरात बांटा जाता था। कभी-कभी इस दिन शिया और सुन्नी लोगों के बीच हिंसक झड़प हो जाया करती थी जिससे तनाव व्याप्त हो जाता था। बादशाह औरंगजेब ने अपने काल में मुहर्रम का जुलूस निकालना प्रतिबंधित कर दिया था। ईद-उल-मिलाद के दिन महल में विद्वानों की सभा बुलाई जाती थी। एवं कुरआन पढ़ा जाता था। लोगों पर गुलाब जल का छिड़काव किया जाता था और गरीबों के बीच मुफ्त में मिठाइयां एवं हलवे का वितरण कराया जाता था। सबे-बारात के दिन मुस्लिम लोग रात भर जाग कर

प्रार्थना करते थे। इसके एक दिन पहले लोग अपने मृतकों के नाम पर थालियों में मिठाईयां सजाते थे तथा कब्र पर फातिहा पढ़ते थे। इसी दिन मुस्लिम लोग अपने पूर्वजों की कब्र पर रोशनी आदि करते थे तथा अगरबत्तियां जलाते थे। रमजान के महीने भर के उपवास का समापन ईद-उल-फितर पर्व से होता था। ईद के चाँद देखने की सूचना तोप दाग कर या विगुल बजा कर दी जाते थी। लोग इस दिन अपने मित्रों को मुबारकबाद देते थे और सिवईयां खिलाते थे। जहांगीर और शाहजहाँ जैसे बादशाह इस दिन गरीबों और जरूरतमंदों को खैरात बंटवाते थे। ईद-उल-जुहा के पर्व के दिन बादशाह जुलूस के साथ ईदगाह तक जाता था। उसकी उपस्थिति में ऊँट की बलि दी जाती थी। जहांगीर अपनी तलवार से बकरे की बलि देता था। संपन्न मुस्लिम परिवारों में भी लोग परम्परानुसार इस्माईल को भेंटस्वरुप बकरे की कुर्बानी देते थे। इस दिन मुस्लिम घरों में मिठाईयाँ और पकवान बनाए जाते थे और लोग पूर्वजों के नाम पर फातिहा पढ़ते थे। वरावफात भी मुसलमानों का एक अन्य प्रमुख पर्व था। गरीब लोगों के लिए ये पर्व उल्लास एवं खुशियों के दिन होते थे जिसे वे अपने परिवार के साथ साझा करते थे।

फारसी वर्ष के पहले महीने 'फरवारदीस' के पहले दिन को नौरोज कहते थे। इस दिन को भी बड़े धूम-धाम से मनाया जाता था। मुग़ल काल का यह एक महत्वपूर्ण पर्व था जो उन्नीस दिनों तक चलता था। भारत में यही समय वसंतागमन का होता था। इस अवसर पर शाही नगर को पूरी तरह सजा दिया जाता था। आम जन भी अपने घरों की सफाई कर उसे सुसज्जित करते थे। नगर में लगने वाले मेले को देखने के लिए दूर-दराज से लोग जुट जाते थे। प्रसिद्ध जगहों के गायक एवं कुशल नर्तकियां अपनी कला को प्रस्तुत करते थे। बादशाह का दरबार सप्ताह में एक दिन आम जन के लिए खुल जाता था। जहाँगीर और इसके बाद के बादशाहों ने इस अवसर पर 'निसार' नामक सिक्के जारी किये जो गरीबों को बाँट दिया जाता था। बादशाह का जन्मदिन भी आम प्रजा की खुशी का दिन होता था। इस दिन बादशाह को मूल्यवान धातुओं से

तौले जाने की परम्परा हुमायूँ ने शुरू की। औरंगजेब ने 1670 ई. में इस प्रथा को स्थगित कर दिया। लेकिन अपने पुत्रों की बीमारी के उपरान्त स्वस्थ होने पर औरंगजेब ने इस प्रथा को इस शर्त पर शुरू किया कि इसमें प्राप्त धनराशि को गरीबों में बाँट दिया जाएगा। तुलादान के की रस्म के बाद बादशाह सिंहासन पर बैठ जाता था और लोगों से उपहार प्राप्त करता था। इस अवसर पर बादशाह कुछ लोगों को उपहार एवं जागीरें भेट करता था जबकि कुछ लोगों के लिए मनसबदारी की घोषणा करता था।

5.9 परिवहन का माध्यम

इस काल में परिवहन के लिए लोग परम्परागत रूप से स्थल मार्ग के लिए जानवरों और चक्के वाली गाड़ियों का जबकि नदियों में नावों या जलयानों का उपयोग करते थे। सवारी के लिए घोड़े, खच्चर, टट्टू, गदहों आदि का उपयोग किया जाता था। रेगिस्तानी इलाके में लोग ऊंटों को परिवहन के लिए इस्तेमाल करते थे। इस समय बैलगाड़ी का परम्परागत रूप से उपयोग किया जाता था। एक, दो या तीन बैलों से चलने वाली बैलगाड़ियां प्रचलन में थीं। समृद्ध लोग परिवहन के लिए रथों का प्रयोग करते थे। ये रथ घोड़ों द्वारा खींचे जाते थे। रथ आरामदेह कमरे के रूप में सजा दिया जाता था। बादशाह अकबर दो घोड़ों वाले रथ को पसंद करता था। बादशाह और अन्य अमीर लोग हौदा वाले हाथियों का भी उपयोग किया करते थे। अकबर के समय में शाही अस्तबल में 101 हाथी बादशाह के उपयोग के लिए थे जिन्हें ख़ास हाथी कहा जाता था। पहाडी इलाके के लिए खच्चर सर्वाधिक उपयोगी होते थे। नयी-नवेली दुल्हनों को ले जाने के लिए डोलियों का उपयोग किया जाता था जिसे कहारों द्वारा ढोया जाता था। जलमार्ग से परिवहन के लिए नावें और जलयान प्रयोग में लाये जाते थे। कुछ जलयान ऐसे होते थे जिनमें दो सौ आदमी तक बिठाये जा सकते थे। प्रत्येक जहाज में छोटी-छोटी कोठरियां होती थीं जिन्हें किराये पर यात्रियों को दिया जाता था।

5.10 मुग़ल काल की आर्थिक स्थिति

मुग़ल काल भारतीय इतिहास का आर्थिक दृष्टि से संपन्न काल माना जा सकता है। बिना सुदृढ़ आर्थिक बुनियाद के कोई भी वंश इतने अधिक दिनों तक इतने बड़े भूभाग के शासक के रूप में बना नहीं रह सकता था जितने दिन मुग़लों ने भारत के शासक वर्ग की भूमिका निभायी। मजबूत अर्थव्यवस्था के बल पर ही मुग़लों ने न केवल एक बड़े सैन्य ढाँचे को स्थापित किया अपितु इस समय में ऐसे निर्माण कार्यों को भी अंजाम दिया जिसमें बेशुमार धन खर्च हुआ और जो आज भी दुनिया की बेहतरीन इमारतों में शुमार की जाती हैं। मुग़ल काल के साहित्य, यूरोपीय यात्रियों के विवरण तथा अन्य अनेक स्रोतों से मुग़लकालीन अर्थव्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस काल में अर्थव्ययवस्था की चहुमुंखी प्रगति हुई। कृषि, उद्योग एवं व्यापार वाणिज्य का विकास हुआ। इन सबके चलते विश्व पटल पर भारत की ख्याति एक समृद्ध देश के रूप में स्थापित हो गयी।

5.11 कृषि एवं कृषक समाज

मुग़लकालीन अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि एवं कृषक समाज था। मुग़ल शासकों ने व्यक्तिगत रुचि ले कर भू-स्वामित्व एवं भू-राजस्व व्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण बदलाव किये। इस समय में कृषि क्षेत्र को बढाने का प्रयास किया गया और खेती को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया। इसके फलस्वरूप पैदावार में वृद्धि हुई। मुग़ल काल में किसान विभिन्न प्रकार के अनाज उगाते थे। अनाजों में दलहन, तिलहन, गेहूँ, धान, बाजरा, मक्का की खेती प्रमुख रूप से की जाती थी। दलहन में अरहर, चना एवं मसूर जबकि तिलहन में सरसों एवं तिल का उत्पादन किया जाता था। इस समय की व्यवसायिक फसलों में कपास, नील और गन्ना प्रमुख थी जिसका उत्पादन आर्थिक महत्व और विभिन्न क्षेत्रीय उद्योगों को ध्यान में रखते हुए किया जाता था। मुग़ल साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्र विशेष फसलों के उत्पादन के लिए

ख्यात थे। जैसे बंगाल और बिहार का क्षेत्र गन्ना उत्पादन के लिए; उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब का क्षेत्र गेहूं उत्पादन के लिए; यमुना नदी की घाटी और मध्य भारत नील उत्पादन के लिए मशहूर थे। कपास, तम्बाकू और चावल लगभग पूरे भारत में उगाये जाते थे। इस समय में खेती परम्परागत रूप से ही की जाती थी एवं किसी नयी प्रविधि या तकनीक का प्रयोग खेती के उपकरणों को विकसित करने में नहीं दिखाई पड़ती। इसीलिये मुग़ल काल में कृषि के विकास के बावजूद कृषि के स्वरुप में कोई ख़ास बदलाव नहीं दिखाई पड़ता। पहले की तरह ही भारतीय किसानों को सिंचाई के लिए बरसात पर निर्भर रहना पड़ता था। जब भी अकाल पड़ता था भारतीय खेती का ताना बाना बिखर जाता था और किसानों के सामने भूखमरी की नौबत आ जाती थी। मुग़ल काल में अनेक अकाल पड़े। 1556-57 ई. में आगरा और बयाना में भयंकर अकाल पडा था। इस अकाल की भयावहता का जिक्र करते हुए बदायूनी लिखता है कि 'उसने स्वयं अपनी आँखों से आदमी को अपने सम्बन्धियों को खाते हुए देखा।' 1573-74 ई. में गुजरात और 1630-32 ई. में दक्षिण भारत को भी भयंकर अकाल का सामना करना पड़ा। यद्यपि अकाल के समय राज्य द्वारा प्रभावित लोगों को राहत पहुंचाने की कोशिश की जाती थी लेकिन अकाल की समस्या से निजात पाने के लिए मुघ्हल शासकों द्वारा कोई स्थायी व्यवस्था नहीं की गयी।

गाँवों में मुख्य रूप से दो तरह के किसान होते थे। ऐसे किसान जिनके पास न तो अपनी जमीन होती थी न ही अपने हल-बैल, वे अपनी आजीविका के लिए उच्च वर्ग के जमींदारों के जमीन पर खेती करते एवं अपना जीवन निर्वाह करते थे। समाज का अछूत या कमीन वर्ग प्रायः इस तरह के किसानों की कोटि में आता था। इन्हें 'पाही' कहा जाता था। अकाल के समय ऐसे किसानों की स्थिति दयनीय हो जाती थी। ऐसे किसान जो अपनी भूमि पर खेती करते थे 'खुदकाश्त' कहे जाते थे। इनके पास अपने बैल और हल होते थे। ऐसे किसान निश्चित दर पर लगान चुकाते थे। खुद-काश्त अपने को गाँव का मूल निवासी

मानते थे और उनका सम्बन्ध प्रायः गाँव की प्रभावशाली जातियों से होता था। ये लोग श्रमिक वर्ग से खेती कराते थे। अक्सर ये लोग इन श्रमिक वर्गों का शोषण करते थे। जबकि खुद-काश्त किसानों का जमींदारों द्वारा शोषण किया जाता था।

मुग़ल काल में खेती लायक भूमि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी। किसान अपनी सामर्थ्य के अनुसार भूमि को जोत और बो सकता था। किसान एक वर्ष में प्रायः दो फसलें उगाते थे। रब्बी की फसल और खरीफ की फसल। कुछ किसान इन दोनों के बीच के समय का उपयोग कर जायद की फसल भी उगा लेते थे। कीमतों के मद्देनजर किसान अपनी फसलें बोता और उगाता था। सत्रहवीं सदी का किसान तम्बाकू और ज्वार की लाभप्रद खेती करने लगा था। बंगाल में रेशम और टसर की उपज में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि अब चीन से इसके आयात की कोई जरूरत नहीं रह गयी। अट्ठारहवीं सदी में आलू और लाल मिर्च जैसी व्यावसायिक फसलों की खेती आरम्भ हो गयी। आम तौर पर भारत का किसान पूरी आबादी के लिए अन्न उत्पादित कर लेता था। इस समय अतिरिक्त उत्पादन के चलते भारत अपने पड़ोसी देशों को चावल और चीनी का निर्यात करने लगा था। जिस सूती कपडे के लिए विश्व भर में भारत की ख्याति थी, उसके लिए कच्चे माल कपास का उत्पादन ग्रामीण क्षेत्र से ही पूरित होता था।

किसान जब तक राज्य को मालगुजारी देता रहता था उस समय तक जमीन पर उसका स्वामित्व बना रहता था। राज्य द्वारा निर्धारित लगान कभी-कभी उनके उत्पादन का आधा हिस्सा तक होता था। फिर भी किसान के पास अपने परिवार के गुजारे लायक अनाज बच जाता था। जीवन कठिन होने के बावजूद किसान अपनी सामान्य जरूरतों को पूरा कर लेते थे। किसान अपनी जमीन खरीद-बेच सकते थे बशर्ते बिरादरी को किसी तरह की कोई आपत्ति न हो। मुग़ल काल में भूमिहीन किसानों, दस्कारों और निम्न वर्गों की स्थिति दयनीय बनी रही।

5.12 उद्योग-धन्धे

मुग़ल काल में कोई नया उद्योग व्यापक पैमाने पर आरम्भ नहीं हुआ। पहले से ही चलते आ रहे उद्योग इस समय भी दिखाई पड़ते हैं तथापि इस काल में औद्योगिक प्रगति हुई। लघु-कुटीर एवं बड़े दोनों तरह के उद्योगों का विकास हुआ। देश के कई शहर इस समय अपने ख़ास उद्योगों के लिए मशहूर हो रहे थे। इस समय राजकीय नियंत्रण में कई कारखाने स्थापित किये गए जिनमें बादशाह और उसके दरबारियों के जरूरत की चीजें तैयार की जाती थीं।

वस्त्र उद्योग इस काल का बड़ा उद्योग था। सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र भारत के विभिन्न हिस्सों में तैयार किये जाते थे। सूती वस्-उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे- खान देश का बुरहानपुर, गुजरात का पाटन, जौनपुर, पटना, बनारस, बिहार, बंगाल, उड़ीसा के अनेक नगर। अबुल फजल आईन-ए-अकबरी में खानदेश के सूती कपडे का जिक्र किया है। दक्कन का 'ख़ासा', लाहौर और लखनऊ का 'चिकन', 'दरियाबादी' और 'मरकूल', भडौंच का 'ताफ्ता', सरहिन्द का 'लाल सालू' और 'छीट', सहारनपुर की 'चौतर' मशहूर थी। दक्षिण में कालीकट और कोयम्बटूर सूती वस्त्र उत्पादन के प्रमुख केन्द्र थे। ढाका की मलमल पूरी दुनिया में विख्यात थी। यहाँ के मलमल की पोशाक इतनी बारीक होती थी कि वह अंगूठी के छेद से बाहर निकल जाती थी। सोनारगांव भी अपने उत्तम प्रकार के मलमल के लिए ख्यात था। मलमल की भी अनेक किस्में थीं। बादशाहों के लिए 'मलमल-ए-ख़ास' और नवाबों के लिए 'सरकाल-ए-आली-आबरमान' और 'शबनम' नामक बहुमूल्य मलमल की किस्में बनायीं जाती थी। यूरोपीय यात्री बर्नियर बंगाल के वस्त्र उद्योग की प्रशंसा करता है।

इस काल में रेशम उद्योग भी विकसित था। रेशम उद्योग के प्रमुख केन्द्रों में कासिम बाजार, मालदा, मुर्शिदाबाद, पटना, कश्मीर और बनारस उल्लेखनीय थे। लाहौर, आगरा, फतेहपुर सीकरी में भी रेशमी

वस्त्र तैयार किये जाते थे। गुजरात में रेशम की बुनाई का बेहतर काम होता था। पंजाब और कश्मीर ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे। कश्मीर के गर्म और मुलायम शालों की अकबर ने तारीफ़ की है। लाहौर, पटना, आगरा और फ़तेहपुर सीकरी शाल बनाने के केन्द्र थे। वस्त्रों की रंगाई का उद्योग भी विकासित था। लाहौर से अवध तक के क्षेत्र में नील का अधिकाधिक उत्पादन होता था। सूती वस्त्रों की रंगाई के लिए दिल्ली मशहूर थी। सरखेज, आगरा, अहमदाबाद, लखनऊ, फर्रूखाबाद, ढाका और कासिम बाजार वस्त्रों की रंगाई के अन्य प्रमुख केन्द्र थे।

धातु उद्योग

भारतीय कामगार प्राचीन काल से ही धातु उद्योग से भलीभांति परिचित थे। विभिन्न मंदिरों में प्रयुक्त लोहे की शहतीरों और अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण से यह बात पुष्ट हो जाती है। दिल्ली के मेहरौली में शताब्दियों से खड़ी लोहे की लाट धातुकर्मियों के लिए आज भी एक आश्चर्य की तरह है मुग़ल काल ने भी भारत के इस परम्परागत धातु उद्योग को बढ़ावा दिया। इस समय कालिंजर , ग्वालियर, कुमायूँ, सुखोतमंडी और अजमेर में लोहे की खानें थीं। इस लोहे से उत्कृष्ट तलवारें बनायी जातीं थीं। लाहौर, सियालकोट, मुल्तान, गुजरात, और गोलकुंडा तलवार बनाने के प्रमुख केन्द्र थे। गुजरात में निर्मित खपवा छूरे (जमधार) एवं धनुष, वाण की व्यापक खपत थी। मेवाड़ और सियालकोट में तोड़ेदार बन्दूक बनायी जाती थी। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के कवच, बन्दूक और तोप के गोलों के बनाने में लोहे का अधिक उपयोग होता था। खेती-बाड़ी में प्रयुक्त होने वाले अधिकाँश उपकरण भी लोहे से ही तैयार किये जाते थे।

सोने और चाँदी के प्रति शुरू से ही लोगों का आकर्षण रहा है। इसी क्रम में इन धातुओं की बेहतर कारीगरी का काम विकसित हुआ जिसकी दूर-दराज तक ख्याति थी। दिल्ली, बनारस, गुजरात और आगरा सुन्दर जड़ाऊ आभूषणों और सुन्दर चित्रकारी वाले बर्तनों के लिए मशहूर थे। बर्तनों पर सोने और चाँदी के सुन्दर जड़ाऊ काम के लिए बीदर

ख्यात था। पानदान, छोटे-बड़े प्याले, रकाबी, हुक्के और मोमबत्तीदान पर किये गए काम हमें चकित करते हैं। गुजरात की प्रसिद्धि कलमदान और कलापूर्ण संदूकों के लिए थी।

आम जीवन में ताँबे का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता था। मुसलमानों के घरों में प्रयुक्त होने वाली घरेलू वस्तुएं सामान्यतया ताँबे के ही बनी होती थीं। जबकि हिन्दुओं के घरों के बर्तन पीतल एवं अन्य मिश्रित धातुओं के बने होते थे। गरीब लोग अपने आभूषणों के लिए ताँबे का प्रयोग करते थे। बनारस, लखनऊ और दिल्ली ताँबे के सामानों के लिए प्रसिद्ध थे। बंदूकों, तोपों और सिक्कों के निर्माण में भी ताँबे का पर्याप्त उपयोग होता था। झारखण्ड के सिंहभूमि जिले में ताँबे की बड़ी खान थी। कुमायूँ और वेराट (जो अलवर राज्य में शामिल थे), राजस्थान के चैनपुर, सिंधना, उदयपुर, कोटपुथली तथा बबाई क्षेत्रों में तथा रायपुरी और नारनौल में ताँबे की खाने विद्यमान थीं।

भारत में शीशा का उपयोग पुरातन काल से ही बहुतायत में होता था। मुग़ल काल में ये परंपरा और आगे बढी। मुग़ल काल में मीनाकारी की गयी बोतलें, हुक्के के प्याले, तश्तरियाँ और उनके ढक्कन, पीकदान, गुलदस्ते, दर्पण और ऐनक जैसी शीशे की सुन्दर वस्तुएं दिखाई पड़ती हैं। आगरा, बिहार, गुजरात, चित्तौड़, पूर्वी गोदावरी, पश्चिमी गोदावरी, वेलारी और बालाघाट शीशा उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे। हाथी दांत की वस्तुओं का उपयोग भारतीय जीवन में पहले से ही होता आ रहा था। मुग़ल काल में भी हाथी दांत की खूबसूरत वस्तुएं बनायीं जाती थीं। दिल्ली और मुल्तान में हाथी दांत की जडाऊ वस्तुएँ बनायीं जाती थीं जिस पर सोने की पच्चीकारी की जाती थी। हाथी दांत से कंगन, शतरंज के पट्टे और मुहरें तैयार की जाती थीं। मुग़ल काल में लाख उद्योग का प्रमुख केन्द्र गुजरात था। बंगाल और उड़ीसा में बहुत अधिक लाख का उत्पादन होता था। इससे स्त्रियों के कड़े और खिलौने तैयार किए जाते थे।

चमड़े का उद्योग भी मुग़ल काल में विकसित था। घोड़ो के लिए

काठी और लगाम, तलवारों के मियान, जूते, पानी भरने के लिए मशक आदि बनाने में चमड़े का अधिकाधिक उपयोग किया जाता था। सिंध में बने चमड़े के सामान उत्कृष्ट कोटि के होते थे। दिल्ली और असम में भी विकसित चमड़ा उद्योग था। गुजरात में सोने और चाँदी से मढी चटाईयाँ तैयार की जाती थी जो अत्यंत प्रसिद्ध थीं। चमड़े की अन्य वस्तुओं का भी यहाँ पर प्रभूत मात्रा में निर्माण किया जाता था जिसे अरब देशों को निर्यात किया जाता था।

मुग़ल काल में घरों के निर्माण विशेषकर उनके छतों के निर्माण में खपड़े का व्यापक पैमाने पर उपयोग होता था। मुग़ल काल में खपडों पर पालिश कर इन्हें और खूबसूरत बनाया जाता था इन खपडों को महलों की सजावट में प्रयुक्त किया जाता था। बीदर के महमूद गवां के मदरसे (1472 ई.), दबीर मस्जिद (1509 ई.), लाहौर के किले (1630 ई.), भट्टा के जामी मस्जिद (1674 ई.) और आगरा, लाहौर एवं दिल्ली के अनेक भवन इस सन्दर्भ के ख्यात उदाहरण हैं जिनमें प्रयुक्त पालिश किये गए खपड़े को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

जहाज़ों का विपुल मात्रा में निर्माण मुग़ल काल की एक और खासियत थी। इसी क्रम में छोटे और बड़े जहाज बनाए जाते थे। 1612 ई. में निर्मित रहीमी जहाज का वजन 1500 टन था। युद्ध के समय इन जहाज़ों को हाथियों के द्वारा खींच कर ले जाया जाता था। सूरत जहाज निर्माण का प्रमुख केंद्र था। इसके अतिरिक्त श्रीनगर, लाहौर, आगरा, मुल्तान, वजीराबाद, इलाहाबाद, मछलीपत्तनम, पुलीकट, बस्सेन, गोवा, भडौंच, ढाका, चटगाँव जैसी जगहों पर पर भी जहाज, नावें, पालकी, रथ आदि तैयार किये जाते थे। भारतीय जहाज सस्ते और टिकाऊँ होते थे। मुग़ल बादशाहों के पास नियमित नौसेना न होने के बावजूद औरंगजेब के पास 'गंज-ए-सवाय' की तरह के कई जहाज थे जिनमें अस्सी-अस्सी तोपें और चार-चार सौ तोड़ेदार बंदूकें लगीं होती थीं। अकबर और शाहजहाँ ने भी शक्तिशाली युद्धपोत बनवाने के प्रयास किये थे।

मुग़ल काल में कागज़ उद्योग भी विद्यमान था जो सुविकसित नहीं था। दिल्ली, पटना, अवध, राजगीर, अहमदाबाद, गया, इलाहाबाद के पास शहजादपुर, सियालकोट और कश्मीर कागज उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे। कश्मीर में बनाया गया कागज़ सर्वोत्तम होता था। कागज़ की कुछ किस्मों का भी पता चलता है। सियालकोट में मानसिंघी, खरपुरी, और जहाँगीरी इन तीन प्रकार के कागजों का निर्माण होता था। मानसिंघी कागज़ को इसकी रेशमी बनावट, सफ़ेद रंग और टिकाऊ होने की वजह से ज्यादा पसंद किया जाता था। लाहौर और आगरा के शाही कारखाने भी कागज़ का उत्पादन करते थे। इसके बावजूद कागज़ का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाता था क्योंकि पुर्तगालियों को अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए यूरोप और चीन से कागज़ मंगाना पड़ता था।

चीनी भारत की एक प्रमुख जरूरतों में से थी। भारतीय लोगों के मीठे के शौक़ीन होने के कारण पूरे भारत में इसकी खपत होती थी। चीनी उद्योग का सम्बन्ध सीधे-सीधे गन्ना के उत्पादन से था। गन्ना उत्पादन के प्रमुख केन्द्रों में लाहौर, आगरा, अजमेर, बंगाल, बिहार और मालवा उल्लेखनीय थे। चीनी निर्माण के प्रमुख केन्द्र आगरा, लाहौर, दिल्ली, बियाना, पटना, बरार और कल्पी थे। इन जगहों पर उत्तम कोटि की चीनी बनायी जाती थी। पटना में तैयार चीनी का निर्यात बंगाल तक होता था।

इस प्रकार मुग़ल काल में उद्योगों का पर्याप्त विकास हुआ। इसमें लघु-कुटीर उद्योग से लेकर बड़े उद्योग तक शामिल थे। कुशल दस्तकारों एवं कारीगरों द्वारा तैयार सामानों की मांग भारत के आतंरिक भागों के अलावा विदेशों में भी थी। इसके चलते आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार का बहुत अधिक विकास हुआ। औद्योगिक विकास के कारण अनेक नगर उद्योग धंधो एवं व्यापार-वाणिज्य के प्रमुख केन्द्र बन गए। मुग़ल काल में इसके कारण भारत का अधिक नगरीकरण हुआ। इसी क्रम में मुग़ल काल में हमें अनेक बड़े और विख्यात नगर दिखाई पड़ते हैं। राल्फ फिच, जो मुग़ल बादशाह अकबर के समय में भारत आया था, ने

आगरा और फतेहपुर सीकरी को लन्दन से भी बड़ा शहर बताया है। अकबर के ही दरबार में आने वाले जेसुईट पादरी मांसरेट के अनुसार लाहौर नगर यूरोप और एशिया के किसी भी शहर से किसी मामले में कम नहीं था। सत्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय यात्री बर्नियर के अनुसार दिल्ली पेरिस से कम नहीं थी और आगरा नगर तो दिल्ली से भी बड़ा था। मुग़ल काल के अन्य बड़े एवं विख्यात नगरों में दिल्ली, बनारस, पटना, राजमहल, ढाका, बर्दवान, चंटगाँव, लाहौर, बुरहानपुर, अहमदाबाद, भड़ौच, सूरत आदि नगर उल्लेखनीय हैं। इस समय का अहमदाबाद भी एक बड़ा शहर था जो लन्दन और उसके उपनगरों जितना बड़ा था। पटना की आबादी दो लाख की थी जो उस समय बहुत बड़ी थी। ये सभी नगर केवल प्रशासनिक केन्द्र ही नहीं बल्कि व्यापार और वस्तु निर्माण के प्रमुख केन्द्र भी थे।

5.13 व्यापार एवं वाणिज्य

मुग़ल काल में व्यापार एवं वाणिज्य स्थल एवं जल दोनों मार्गों द्वारा होता था। इस काल में व्यापार वाणिज्य के विकास एवं अच्छी स्थिति के पीछे अनेक कारण थे। मुग़ल काम आम तौर पर शान्ति एवं व्यवस्था का काल था। व्यापारियों और व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा सुनिश्चित किये जाने से व्यापारिक प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। आवागमन की सुविधा होने के कारण भी व्यापारी व्यापार करने के लिए प्रोत्साहित हुए। मुद्रा व्यवस्था के ठोस रूप और उसके प्रसार ने भी व्यापारिक क्षेत्र को आगे बढ़ने की ताकत प्रदान की। इस समय तक अनेक यूरोपीय कम्पनियां व्यापारिक उद्देश्य से भारत आ चुकी थीं। मुग़ल बादशाहों ने इन्हें अपना संरक्षण और सुविधाएं प्रदान किया जिससे विदेश व्यापार को बढ़ावा मिला। मुग़ल काल में अनेक बंदरगाहों का विकास हो चूका था। यह वैदेशिक व्यापार के अनुकूल परिस्थिति थी। भारत के पूर्वी तट पर मछलीपत्तनम, नागपत्तनम, पुलीकट, और बंगाल में हुगली, श्रीपुरा, चंटगाँव उल्लेखनीय बंदरगाह थे जबकि पश्चिमी तट पर लहरी बन्दर, गुजरात में सूरत, खम्भात, गोवाकोचीन प्रमुख बंदरगाह थे। मनूची

(1653-1708 ई.) सूरत के विषय में लिखता है- 'अरब तथा फारस के जहाज खजूर-फल, घोड़ों, समुद्री मोतियों तथा रत्नों का पर्याप्त मात्रा में आयात करते थे, बदले में गुड़ और चीनी, मक्खन, जैतून के फल और नारियल ले जाते थे। व्यापारी भारतीय सामान, विशेष रूप से कपडे ले जाते थे और बहुमूल्य तथा कुछ दूसरे धातु जिससे बर्तन और विभिन्न प्रकास की विलासिता की वस्तुएं बनती थीं, बदले में ले जाते थे। अफगानिस्तान, फारस तथा मध्य एशिया के साथ मुल्तान, कोटा, खैबर पास के रास्ते से स्थल मार्ग व्यापार के अतिरिक्त, माल कोरोमंडल समुद्री तट के रास्ते फारस ले जाया जाता था।'

निर्यात

विदेशों में भारतीय वस्तुओं की अच्छी-खासी मांग थी। भारतीय राज्य इस मांग को पूरा करने का प्रयत्न करते थे। इससे भारत को बहुत फायदा होता था। भारत द्वारा मुग़ल काल में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में अनाज, तेल, बीज, ज्वार, चावल, नील, चीनी, सुगन्धित लकड़ी एवं पौधे, चन्दन की लकड़ी, कपूर, लवंग, काली मिर्च, लहसुन, नारियल रूई से बनी वस्तुएं, विभिन्न जानवरों की खालें, विशेषकर गैंडे और चीते की खाल प्रमुख थे।

भारतीय सूती कपडे की विश्व भर में अच्छी प्रतिष्ठा और मांग थी। जावा, सुमात्रा, मलाया, बोर्नियो, अकनि, पेगू, स्याम के अतिरिक्त इंग्लैंड में भी ज्यादा मांग थी। उत्तम किस्म की मलमल फारस और अरब देशों खासकर मिस को निर्यात की जाती थी। सूरत, बनारस, बंगाल और अहमदाबाद में बनी सिल्क का निर्यात यूरोप, म्यामार और मलाया को निर्यात की जाती थी। मोरलैंड ने अपनी पुस्तक 'फ्रॉम अकबर टू औरंगजेब' में यह अनुमान लगाया है कि सत्रहवीं शताब्दी में रूई का वार्षिक निर्यात लगभग आठ हजार गाँठ होती थी जिसमें से 4700 गाँठ यूरोपीय देशों को भेजी जाती थी।

सूती कपडे के अतिरिक्त बंगाल और उड़ीसा में उत्पादित लाख का निर्यात डच कंपनी द्वारा फारस को किया जाता था। बिहार और

मालवा में उत्पादित अफीम का निर्यात पेगू, जावा, मलाया, चीन और अरब को समुद्री मार्ग से जबकि फारस को स्थल मार्ग से किया जाता था। चावल बंगाल से बटाविया को भेजा जाता था। अभी हाल ही में तम्बाकू से परिचित हुए भारत ने अत्यंत अल्प समय में ही निर्यातक की भूमिका अपना ली। उल्लेख मिलता है कि 1623 ई. में भारत तम्बाकू का निर्यात अराकान और मोचा को करने लगा था। थोड़ी-बहुत मात्रा में चीनी का निर्यात फारस, काबुल और फ्रांस को किया जाता था। इन सबके अतिरिक्त लोहा, इस्पात, हींग, आंवला, दवाएं, बहुमूल्य पत्थर, सेलखडी और संगमरमर का निर्यात भी विभिन्न देशों को किया जाता था।

आयात

मुग़ल काल में विदेशों से भारत द्वारा आयातित वस्तुओं की सूची तैयार कर पाना मुश्किल काम है। छिटपुट उल्लेखों के आधार पर आयातित वस्तुओं के बारे में जानकारी मिलती हैं। 'इन्डियन इकोनोमिक लाईफ-पास्ट एंड प्रजेंट' के लेखक बृज नारायण ने वान ट्विस्ट के हवाले से बताया है कि 'यद्यपि भारत में सोने और चाँदी की खाने नहीं थीं लेकिन विदेशों से ये दोनों धातुएं आयात की जाती थीं एवं इनके निर्यात पर रोक थी।' विलियम हाकिन्स अपने यात्रा विवरण में लिखता है- 'भारत में चाँदी प्रचुर मात्रा में है क्योंकि सभी देश यहाँ पर प्रचुर मात्रा में सिक्के लाते हैं और उसके बदले में वाणिज्यिक वस्तुएं ले जाते हैं। इस प्रकार ये सिक्के भारत में ही रह जाते हैं, बाहर नहीं जाते।'

भारत के लोग प्राचीन काल से ही आभूषणप्रिय हैं। पुरुष से लेकर स्त्री तक में आभूषणों का यह लगाव देखा जा सकता है। मुग़ल काल भी इसका अपवाद नहीं था। इसी क्रम में सोने का निर्यात चीन, जापान, मलक्का एवं अन्य समीपवर्ती देशों से, मोती जैसे रत्न फारस एवं अरब से, मूंगा पेगू से आयात किया जाता था। बहुमूल्य धातुओं के अतिरिक्त भारत द्वारा आयात की जाने वाली सामग्री में शीशा, उत्तम प्रकार के ऊनी कपड़े, सिल्क, साटन और मखमल के कपड़े और पारा प्रमुख था।

मध्य एशिया और अफगानिस्तान से सूखे और ताजे फल, हींग और लाल पत्थर; नेपाल से पशु-सींग, कस्तूरी, सोहागा, चिरैता, मजीठ, इलायची, बाज पक्षी और बालचर (एक प्रकार की सुगन्धित घांस); भूटान से तिब्बती गाय की दुम एवं कस्तूरी और इस्फहान से सूखे और ताजे फल, शराब, दरी, सिल्क, सुनहले सिक्के और मजीठ का आयात किया जाता था। चीनी मिट्टी के बर्तनों की भी भारत के आभिजात्य वर्ग में बड़ी मांग थी। बादशाह अकबर लगभग ढाई लाख रुपये मूल्य के चीनी मिट्टी के बर्तन छोड़ कर मरा था।

भारत बड़ी मात्रा में घोड़ों का भी आयात करता था। तुर्किस्तान के अजाक प्रांत के लोग भारत को उत्तम किस्म के घोड़े निर्यात करते थे। होरमुज, अदन, क्रीमिया तथा अजाक से भारत उत्तम किस्म के घोड़ों का आयात करता था।

कुल मिला कर व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में था। विदेशी व्यापारी अपने उपयोग की वस्तुओं के बदले में सोना और रेशम दे जाते थे। इंग्लैंड में मलमल तथा छपे और रंगदार लट्ठे की मांग थी कि 1700 ई. में ब्रिटिश संसद में विशेष विधान पास किया जिसके अनुसार 29 दिसंबर, 1701 तथा इसके पश्चात फारस, चीन, पूर्वी हिन्द द्वीप समूह के बुने हुए तैयार रेशमी कपडे, कढ़े तथा जड़ी-बूटी में मिश्रित वस्तुएं तथा सब प्रकार के लट्ठे चाहे वे चित्रित हों, चाहे रंगे हुए या छपे जिनका भी इस राज्य में आयात किया जाएगा, उन्हें ग्रेट ब्रिटेन में पहना अन्यथा प्रयोग में नहीं लाया जाएगा। जिस सामान का उस दिन के बाद आयात किया जाएगा उसको गोदाम में सुरक्षित रखा जाएगा तथा फिर उसका निर्यात किया जाएगा।'

विदेशों से व्यापार में अरब, तुर्की और खुरासान के व्यापारियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। उत्तर भारत के मुल्तानी, गुजराती बनिए, राजपूताना, मध्य भारत तथा गुजरात के बंजारे कुछ ऐसे व्यापारी थे जिन्होंने विदेशों के साथ व्यापार शुरू किया था। इन व्यापारियों में सूरत के वीर जी वोहरा, अहमदाबाद के शान्तिदास जवाहरी, मालाबार के हाजी

सैय्यद बेग, मनोहर दास और मलय चेट्टी के नाम प्रसिद्ध थे। वीरजी वोहरा सूरत के व्यापार पर कई दशकों तक प्रभाव बनाए हुए था। उसके पास अनेक बड़े-बड़े जहाज थे और वह अपने समय के सबसे धनी लोगों में उसकी गणना होती थी। अब्दुल गफूर वोहरा ने 1718 ई. में अपनी मृत्यु के समय लगभग पचपन लाख रूपया नकद और जायदाद के रूप में छोड़ा। आगरा, दिल्ली, बालासोर और बंगाल में अनेक धनी व्यापारी थे जो शानो-शौकत से जीवन बिताते थे। ये व्यापारी अपना अधिकतर व्यापार पूर्वी अफ्रीका, लाल समुद्री बंदरगाहों, फारस की खाडी के क्षेत्र और दक्षिण पूर्वी एशिया के भागों विशेषकर सुमात्रा तक करते थे।

आतंरिक व्यापार

मुग़ल काल में आन्तरिक व्यापार एक बड़े क्षेत्र में होता था। इस समय के प्रत्येक गाँव में किसी विशेष दिन बाजार या हाट लगता था। वार्षिक स्तर पर मेलों का भी आयोजन किया जाता था जिसमें भाग लेने के लिए समीपवर्ती कस्बों और गाँवों से व्यापारी आया करते थे। इस काल में फेरी लगा कर अपना माल बेचने वाले व्यापारी भी दिखाई पड़ते हैं जो लोगों को उनके जरूरत की वस्तुएं उनके दरवाजे-दरवाजे तक पहुंचाते थे। इसके अतिरिक्त राजपूताने के बंजारे नमक, चीनी, अनाज जैसी जरूरत की वस्तुएं सैकड़ों बैलों पर लाद कर एक जगह से दूसरी जगह ले जाते थे। कभी कभी बैलों का ये काफिला चालीस हजार तक की संख्या का हो जाता था। काफिलों में जाना सुरक्षा की दृष्टि से बेहतर होता था और व्यापारी काफिले में चलने को ही वरीयता देते थे। आन्तरिक व्यापार स्थल मार्ग द्वारा होता था। इन मार्गों पर दोनों तरफ छायादार वृक्ष लगे होते थे। स्थान-स्थान पर व्यापारियों के लिए विश्रामालय बने होते थे। जल मार्ग से व्यापार अपेक्षाकृत सस्ता पड़ता था। कश्मीर, सिन्ध, पंजाब तथा बंगाल में अधिकतर व्यापार नदी से ही होता था। आन्तरिक व्यापार पर जगह-जगह पर्याप्त मात्रा में चुंगी जैसे 'तमगा' और 'जाकट' आदि लगती थी। चुंगी के अतिरिक्त सभी बड़े बाजारों में एवं बंदरगाहों पर कुछ शुल्क देना पड़ता था जो ढाई

प्रतिशत तक होता था। औरंगजेब ने इसे बढ़ा कर पांच प्रतिशत कर दिया। इसके बदले में राज्य द्वारा व्यापारियों को डकैतों एवं लुटेरों से सुरक्षा प्रदान की जाती थी।

व्यापारी समुदाय

भारत का व्यापारी समुदाय अनेक धर्मो और जातियों के लोगों से मिल कर बना था जिनमें परस्पर आपसी सद्भाव का सम्बन्ध रहता था। व्यापार-वाणिज्य में अग्रणी गुजरात के व्यापारियों में हिन्दू, जैन और मुसलमान शामिल थे। इन मुसलमान व्यापारियों में ज्यादातर वोहरे लोग थे। राजस्थान में ओसवाल, माहेश्वरी, अग्रवाल जैसे व्यापारिक समुदाय मारवाड़ी कहे जाने लगे। मध्य एशिया से किया जाने वाला स्थल व्यापार मुल्तानियों, अफगानों और खत्रियों के हाथ में था। अट्ठारहवीं शताब्दी में मारवाड़ी समुदाय के लोग व्यापार-वाणिज्य के क्रम में ही महाराष्ट्र और बंगाल तक फ़ैल गए और वहां इन लोगों ने अपनी प्रभावी स्थिति बना ली। दक्षिण भारत के व्यापारी समुदायों में कोरोमंडल तट के चेट्टी और मालाबार के हिन्दुस्तानी और अरब मुस्लिम व्यापारी सर्वप्रमुख थे।

5.14 बैंक प्रणाली

मुग़ल काल में अपने समय की अपनी तरह की बैंकिंग व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में कर्ज लेने-देने, आधुनिक बैंक की तरह धन जमा करने-निकालने एवं अपनी धनराशि दूर-दराज के क्षेत्र में ड्राफ्ट के रूप में भेजने की व्यवस्था थी। मुग़ल काल में 'खराज' या लगान के मुद्रा के रूप में नकद लिए जाने से गाँव भी चाहे-अनचाहे इस समय की मौद्रिक व्यवस्था में शामिल हो गए। मुद्रा के इस व्यापक लेन-देन से बैंकिंग व्यवस्था को बढ़ावा मिला।

मुग़ल काल के लगभग हरेक गाँव में कोई न कोई साहूकार या 'सर्राफ' जरूर होता था। ये सर्राफ धन के लेन-देन, वस्तुओं के क्रय-विक्रय एवं मुद्रा के जांचकर्त्ता की विशेष भूमिका निभाते थे। चुकि इस

समय कोई भी व्यक्ति धातु देकर सरकारी टकसाल में मुद्रा ढलवा सकता था इसलिए मुद्रा की सही परख जरूरी थी। सर्राफ इस काम को कुशलतापूर्वक संपन्न करते थे। सर्राफ इस काम के लिए कुछ धन लेता था। इनके हुनर को देखते हुए ईस्ट इण्डिया कंपनी ने धातुओं की जांच के लिए इन सर्राफों की मदद की। यह सर्राफ जरूरतमंद किसानों और व्यापारियों को एक सुनिश्चित ब्याज पर कर्ज देता था। मुद्रा के विनिमयकर्त्ता के रूप में वे ढलाई की गयी नयी मुद्रा का प्रचार भी करते थे। 1665-66 ई. में जब देश में ताँबे की अत्यन्त कमी थी और दाम का प्रचार सीमित हो गया था तब इन सर्राफों ने ही छोटे सिक्के चलाये थे।

ये सर्राफ लोगों के धन को अपने पास सुरक्षित रखते थे और आधुनिक बैंकों की तरह उस पर ब्याज भी देते थे। धन के इस लेन-देन में ब्याज में अन्तर होता था। अलग-अलग जगहों पर ये ब्याज दरें अलग-अलग होती थीं जिसमें समय-समय पर कमी या वृद्धि होती रहती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में अंग्रेज अपनी सम्पूर्ण पूँजी इन सर्राफों के पास ही जमा कर दिया करते थे जिस पर उन्हें अच्छा ब्याज इन सर्राफों द्वारा दिया जाता था। ये सर्राफ मनसबदारों का धन साई (बयाना) के तौर पर भी रखते थे एवं इसे उधार देते थे। सर्राफों के अतिरिक्त धनवान व्यापारी, महाजन और साहूकार भी इस तरह का काम किया करते थे।

सर्राफ इस समय एक अन्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। यह काम था हुण्डी जारी करना। हुण्डी की सहायता से सर्राफ अपनी साख बनाते थे जिससे धन लगातार घूमता रहता था। इस समय की बैंकिंग व्यवस्था का यह महत्वपूर्ण काम था। अबुल फजल लिखता है कि जब कोई व्यक्ति एक जगह से दूसरी जगह अपना धन ले जाना चाहता था तब वह किसी सर्राफ की मदद लेता था। व्यक्ति अपना धन सर्राफ को दे देता था। सर्राफ उसे एक लिखित पत्र या हुण्डी दे देता था। इस हुण्डी के आधार पर व्यक्ति धन भेजने वाली जगह पर जाकर सर्राफ के एजेंट

से अपना धन ले लेता था। इस प्रकार यह हुण्डी आधुनिक काल के चेक या ड्राफ्ट के समान थी। यह हुण्डी इतनी स्वीकृत थी कि इस पर न तो किसी गवाही की जरूरत थी न ही किसी मुहर की। सुजान राय ने अपने ग्रन्थ 'खुलासत-उत-तवारीख' में हुण्डी व्यवस्था के प्रचलन का जिक्र किया है। सुजान राय लिखते हैं कि जब कोई अजनबी इन सर्राफों के पास लाखों रुपये बिना किसी साक्षी के जमा कर देता था, तब भी जब वे अपना धन माँगते तो सर्राफ बिना किसी बिलम्ब के ईमानदारीपूर्वक वापस कर देते थे। हुण्डी व्यवस्था की उन्नति से धन का लेन-देन अधिकाधिक बढ़ा जिससे व्यापार-वाणिज्य को पर्याप्त बढ़ावा मिला।

इन सबके अतिरिक्त मुग़ल काल में बीमा पद्धति भी प्रचलित थी जो सर्राफों द्वारा ही किया जाता था। बीमा दो तरह से किया जाता था। पहले रूप में बीमाकर्ता किसी भी सामान को निर्धारित जगह पर सुरक्षित भेजने की जिम्मेदारी लेता था और उसे सुरक्षित भेजता था। दूसरे रूप में बीमाकर्ता बीमाकृत सामान की रास्ते में खो जाने या खराब हो जाने पर उसका मूल्य अदा करने का जोखिम लेता था। इन अलग तरीकों के लिए बीमाकर्ता सामान का बीमा कराने वाले व्यक्ति से अलग-अलग धनराशि लेता था।

5.15 टकसाल एवं मुद्रा

मुग़ल काल में ही भारतीय मुद्रा को एक ऐसा आकार मिला जो किसी न किसी रूप में आज तक चलता चला आ रहा है। शेरशाह सूरी (1540-45 ई.) ने अपने समय में चाँदी का सिक्का चलाया जिसे 'रूपया' कहा गया। इसका वजन एक तोला था जो इल्तुतमिश कालीन एक टंके के बराबर था। शेरशाह ने ताँबे का सिक्का 'दाम' भी जारी किया जो 330 ग्रेन वजन का था। चालीस दाम का एक रूपया होता था। दामों का विभाजन 'अधेला' (1/2 दाम), 'पओला' (1/4 दाम); 'दमड़ी' (1/8 दाम); और 'जीतल' (1/25 दाम) में किया गया था। मोटे तौर पर यही सिक्के पूरे मुग़ल काल में किसी न किसी रूप में प्रचलित रहे।

बादशाह अकबर ने मुग़ल काल में पहली बार टकसाल और मुद्रा व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। उसने सोने, चाँदी और ताँबे के विभिन्न तौल और मूल्यों के सिक्के चलाये और उनका पारस्परिक अनुपात तय किया। इन सिक्कों पर बादशाह का नाम, टकसाल का नाम और जारी किये गए वर्ष के अतिरिक्त कुछ पर कुरआन की आयतें भी अंकित होती थीं। अकबर का सबसे बड़ा सिक्का 'शंसब' था जो 101 तोले का था। इसका प्रयोग बड़े लेन-देन में किया जाता था। सोने का अधिक चलने वाला सिक्का 'इलाही' होता था जिसका मूल्य दस रुपये के बराबर होता था। अकबर ने अपने समय में कुल छब्बीस प्रकार के सोने के सिक्के जारी किये थे। चाँदी का सिक्का 'रूपया' कहा जाता था जिसका वजन 172.5 ग्रेन होता था। चौकोर आकृति वाले सिक्के को 'जलाली' कहा जाता था जो अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया। इस समय रुपये के आधे, चौथाई, आठवें, दसवें, बीसवें एवं चालीसवें हिस्से वाले सिक्के भी जारी किये गए। ताँबे का सिक्का 'दाम' होता था जो रुपये का चालीसवां भाग होता था। सबसे छोटा सिक्का 'जीतल' होता था जो एक दाम का पच्चीसवां हिस्सा होता था। अबुल फजल के अनुसार अकबर के समय 1595 ई. में सोने के सिक्के ढालने वाले चार, चाँदी के सिक्के ढालने के लिए चौदह और ताँबे के सिक्के ढालने वाली बयालीस टकसालें थीं। अकबर ने अपने समय में जिस मुद्रा और टकसाल व्यवस्था को अपनाया उसकी सभी इतिहासकारों ने तारीफ़ की है और आगे चल कर यही अंग्रेजों के समय की मुद्रा एवं टकसाल व्यवस्था का आधार बना।

जहांगीर के समय प्रायः अकबर के समय की मुद्रा व्यवस्था चलती रही। जहांगीर द्वारा जारी कराये गए सिक्कों पर 'शराब का प्याला लिए उसकी खुद की आकृति' अंकित है। कुछ सिक्कों पर बादशाह के साथ नूरजहाँ का नाम भी अंकित था। औरंगजेब के समय रुपये के मूल्य में कुछ वृद्धि की गयी किन्तु यह अन्तर अत्यन्त साधारण था। औरंगजेब के समय टकसालों की संख्या में बढ़ोत्तरी हो गयी। मोरलैण्ड ने उल्लेख

किया है कि मुग़ल रुपये का मूल्य दो शिलिंग तीन पेंस यानी लगभग 1.75 रुपये था। ट्रेवरनियर जिसने सत्रहवीं शताब्दी में कई बार भारत का भमण किया था सूचित करता है कि एक रुपये में 46 से 56 पैसे होते थे जो ताँबे के टकसाल के अधिक या कम दूरी होने पर निर्भर था। इस समय में मुद्रा के रूप में कौड़ियों का भी प्रचलन था। बंगाल तथा उड़ीसा में दूर-दराज तक कौड़ियों का प्रचलन था। 2500 से 3000 कौड़ी का एक रूपया होता था।

कुल मिलाकर मुग़ल कालीन मुद्रा व्यवस्था बेहतर अवस्था में थी। इसने एक सुनिश्चित रूपाकार लिया। इतिहासकार इरफ़ान हबीब के अनुसार मुग़लों के समय पूरे सौ सालों तक रुपये का वजन एक समान बना रहा। मुग़ल काल में टकसालें केंद्रीय नियन्त्रण में होने के बावजूद ढलाई के मामले में स्वतन्त्र थीं। कोई व्यक्ति जब और जिस धातु का सिक्के ढलवाना चाहता था उस धातु को टकसाल में ले जा कर सिक्के ढलवा सकता था। ढलवाये गए सिक्के का लगभग पांच से छः प्रतिशत टकसाल को ढलाई के शुल्क के रूप में देना पड़ता था।

5.16 माप-तौल के पैमाने

मुग़ल काल में माप तौल को भी एक सुनिश्चित आधार प्रदान किया गया। इस दिशा में अकबर ने कुछ कदम उठाये। अकबर के पहले तौल की सबसे बड़ी इकाई 'मन' होती थी जो चालीस सेर का होता था। सेर का भार हर जगह अलग होता था। अकबर ने सेर का वजन तीस दाम के वजन के बराबर सुनिश्चित कर दिया। इससे वजन में एकरूपता आ गयी। अब मन का भार ५५.३२ पौंड के बराबर हो गया। धीरे-धीरे मन का यह एकरूप वजन पूरे साम्राज्य में स्वीकार कर लिया गया। जहांगीर के काल में मन का वजन बढ़ा दिया गया। अब यह 66.38 पौण्ड के बराबर हो गया। शाहजहाँ ने भी अपने समय में मन के वजन में कुछ परिवर्तन किये और अब यह बढ़ कर 73.76 पौण्ड हो गया। रोचक बात यह है कि इन तीनों बादशाहों द्वारा चलाये गए वजन

साम्राज्य में एक साथ प्रचलित रहे। नाप के लिए उत्तर भारत में गज का प्रयोग किया जाता था। इसकी लम्बाई 30 से 33 इंच के बीच थी। मुग़ल बादशाह अकबर ने अपने समय में इलाही गज चलाया जो 41 अंगुल के बराबर था। विभिन्न स्रोतों से पता चलता है कि इस समय दक्षिण भारत में माप-तौल के अलग पैमाने इस्तेमाल किये जाते थे।

5.17 सारांश

आपने इस इकाई में पढ़ा कि मुग़ल काल में किस प्रकार का समाज था और किस तरह मुग़ल कालीन अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। आपने इस इकाई में यह भी पढ़ा कि विदेशी होने के बावजूद किस तरह मुसलमान भारत की आबो-हवा में मिलते गए और अपने हिन्दुस्तानी होने पर गर्व करने लगे। धीरे-धीरे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सद्भावना का विकास हुआ जिसे अकबर की नीतियों ने और सुदृढ़ आधार प्रदान किया। अब ये दोनों समुदाय एक दूसरे से हिलने-मिलने लगे। इसी क्रम में आपने सामाजिक वर्गीकरण और स्त्रियों की स्थिति के बारे में भी जानकारी प्राप्त की। इस समय के लोगों के किस प्रकार के मनोरंजन के साधन थे और एक स्थान से दूसरी जगह जाने में परिवहन के किन साधनों का इस्तेमाल करते थे इस पर भी हमने इस इकाई के अंतर्गत विचार किया। समाज के साथ-साथ अर्थव्यवस्था के अनेक पहलुओं पर भी हमने दृष्टिपात किया। इस क्रम में हमने इस समय के भारत के कृषि और किसानों के समुदाय, विभिन्न उद्योग धन्धों एवं व्यापार -वाणिज्य पर प्रकाश डाला। भारत का विदेशों के साथ किस तरह का व्यापारिक सम्बन्ध था और भारत का आन्तरिक व्यापार किस तरह होता था। इसके साथ साथ हमने तत्कालीन बैंकिंग व्यवस्था, मुद्रा व्यवस्था एवं माप-तौल की प्रविधियों पर भी विचार किया। कुल मिला कर मुग़ल काल में भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था की स्थिति पहले से बेहतर थी। वस्तुतः यही वह आधार था जिसके ऊपर आधुनिक भारत की नींव का मार्ग प्रशस्त हुआ।

5.18 बोध प्रश्न

1. किस मुग़ल बादशाह ने तुलादान प्रथा को स्थगित कर दिया?

   (अ). शाहजहाँ (ब). जहाँगीर

   (स). औरंगजेब (द). फर्रूखशियर

2. किस मुग़ल कालीन वास्तु की दुनिया भर में ख्याति थी?

   (अ). सूती वस्त्र (ब). रेशमी वस्त्र

   (स). लोहा (द). शोरा

3. मुग़ल काल में किस पर्व को राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाया जाता था?

   (अ). ईदुज्जुहा (ब). विजयादशमी

   (स). अकबर का जन्म दिन (द). नौरोज

4. मुग़ल कालीन विदेश व्यापार पर प्रकाश डालिए?

5. मुग़ल कालीन कृषि की स्थिति पर एक टिप्पणी लिखिए?

5.19 शब्दावली

बेगार-श्रमिक से जब कोई व्यक्ति काम कराए लेकिन उसे मजदूरी न दे तो इसे बेगार कराना कहा जाता है।

बंदरगाह-स्थल से लगा हुआ समुद्र का वह भाग जो पानी के जहाज़ों के लिए स्टेशन की तरह होता है। यहीं पर इन जहाज़ों पर माल लादा और उतारा जाता है।

टकसाल-मुद्रा ढालने की जगह, जिसे सरकार द्वारा स्थापित किया जाता था।

अंतरजातीय विवाह- हिन्दुओं में ऐसा विवाह जिसमें वर या कन्या अपनी जाति से इतर कन्या या वर से शादी करते हैं।

तुलादान- एक बड़ी तराजू के एक पलड़े पर बादशाह बैठता था। दूसरे पलड़े पर सिक्के और बहुमूल्य धातुओं को रख कर बादशाह को तौला जाता था। इस प्रक्रिया को ही तुलादान कहा जाता है।

व्यापार संतुलन पक्ष में होना- जब किसी राज्य का निर्यात उसके द्वारा किये जाने वाले आयात से अधिक होता है तब अर्थ शास्त्र की शब्दावली में इसे व्यापार संतुलन का पक्ष में होना कहा जाता है। इसके विपरीत जब निर्यात कम हो और आयात ज्यादा हो तब यह प्रतिकूल व्यापार संतुलन कहा जाता है।

पेगू- वर्तमान म्यामार को ही मुग़ल काल में पेगू कहा जाता था।

5.20 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (स), 2. (अ), 3. (द)

5.21 उपयोगी पुस्तकें

1. ब्राउन, पर्सी; इन्डियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड), ऑक्सफ़ोर्ड, 1924
2. चोपड़ा, पी. एन., बी. एन. पुरी, एम. एन. दास; भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, भाग- दो, मैकमिलन, पटना, 1975
3. दास, ब्रजरत्न द्वारा अनुदित जहांगीर का आत्मचरित
4. फजल, अबुल; आईन-ए-अकबरी
5. फारूकी, ए. के. एम., रोड्स एंड कम्यूनिकेशन इन मुग़ल इण्डिया, दिल्ली, 1977
6. हबीब, इरफ़ान; द एजेरियन सिस्टम ऑफ़ मुग़ल इण्डिया, 1556-1707, मुम्बई, 1963.; द टेक्नोलोजी एंड इकोनोमी ऑफ़ मुग़ल इण्डिया, आई. ई. एस. एच. आर., भाग-17, 1980; जमींदार्स इन द आईन, पी. आई. एच. आर., त्रिवेन्द्रम अधिवेशन, 1958.

7. हम्बले, जी सिटीज ऑफ मुगल इण्डिया न्यूयार्क 1968हम्बले, जी., सिटीज ऑफ़ मुग़ल इण्डिया, न्यूयार्क, 1968.
8. मजूमदार, रमेश चन्द्र, हेमचन्द्र राय चौधरी, कालिकिंकर दत्त; भारत का वृहद् इतिहास, भाग-दो, मैकमिलन, दिल्ली, 1954
9. पाण्डेय, राजेन्द्र; भारत का सांस्कृतिक इतिहास, लखनऊ, 1976
10. प्रसाद, बेनी; हिस्ट्री ऑफ़ जहाँगीर, इलाहाबाद, 1976
11. राधेश्याम, मध्यकालीन प्रशासन समाज एवं संस्कृति, इलाहाबाद, 1993
12. रिचर्ड्स, डी. एस., (संपा.) इस्लाम एंड द ट्रेड ऑफ़ एशिया, ऑक्सफ़ोर्ड, 1970.
13. सक्सेना, बनारसी प्रसाद: हिस्ट्री ऑफ़ शाहजहाँ ऑफ़ देलही, इलाहाबाद, 1962
14. शर्मा, एल. पी.; मध्यकालीन भारत, आगरा, 1975
15. स्मिथ, विसेंट: अकबर दि ग्रेट मुग़ल, दिल्ली, 1962
16. श्रीवास्तव, ए. एल.; अकबर द ग्रेट मुग़ल (तीन भाग में); द मुग़ल एम्पायर (1526-1803); मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
17. वर्मा, हरिश्चन्द्र (संपा.), मध्यकालीन भारत खंड-2 (1540-1761ई.), दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993.

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGHY-104

भारतीय इतिहास

1556–1857 ई0 तक

खण्ड – 2

भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना का प्रारम्भिक चरण

इकाई 1

आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध : पृष्ठभूमि : कारण एवं परिणाम

इकाई 2

प्लासी का युद्ध पृष्ठभूमि, कारण एवं परिणाम

इकाई 3

पानीपत का तृतीय युद्ध, पृष्ठभूमि एवं महत्व

इकाई 4

मैसूर : हैदरअली एवं टीपू सुल्तान

इकाई 5

बंगाल का घटनाक्रम, ईस्ट इंडिया कम्पनी एवं बक्सर का युद्ध

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश
प्रयागराज

परामर्श समिति **UGHY-104**

प्रो0 सीमा सिंह — **कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

प्रो0 पी0 पी0 दूबे — **कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज**

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार — आचार्य इतिहास एवं प्रभारी निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 संजय श्रीवास्तव — आचार्य, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, समाज विज्ञान विद्याशाखा विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

प्रो0 संतोषा कुमार (ब्लॉक–1) — आचार्य, इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ. नम्रता प्रसाद (ब्लॉक–2) — एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास सी.एम.पी.पी.जी. कॉलेज, प्रयागराज

डॉ. (कुमारी) पंकज शर्मा (ब्लॉक–3 एवं 6) — सहायक आचार्य, इतिहास नानकदेव संस्कृत पी.जी.कॉलेज,मेरठ

डॉ. संतोष कुमार चतुर्वेदी (ब्लॉक–4) — आचार्य, इतिहास महामति प्राणनाथ पी.जी.कॉलेज,मऊ, चित्रकूट

डॉ0 तनवोर हुसैन (ब्लॉक–5) — सहायक आचार्य, इतिहास, जी.एफ.पी.जी. कॉलेज,शाहजहाँपुर

सम्पादक

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी (ब्लॉक–1,3,4,5,6) — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो. अरुणा सिन्हा (ब्लॉक–2) — आचार्य, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-ShareAlike 4.0 International License.

ISBN : 978-93-94487-91-8

इकाई – 1

आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध : पृष्ठभूमि : कारण एवं परिणाम

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1. प्रस्तावना

1.2. आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध की पृष्ठभूमि

1.2.1 कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–48)

1.2.2 कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–48)

1.2.3 कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–48)

1.3. आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध के कारण

1.4. आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध के परिणाम

1.5. सारांश

1.6. बोध प्रश्न

1.7. सहायक ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेगें।

- आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध की पृष्ठभूमि के विषय में।
- आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध की पृष्ठभूमि के विषय में।
- आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध की पृष्ठभूमि के विषय में।

1.1 प्रस्तावना

भारत में अंग्रेजों एवं फ्रान्सीसियों के बीच संघर्श चार चरणों में हुआ था। प्रथम तीन चरणों में यह संघर्श मुख्यतः दक्षिण–भारत तक सीमित था। चौथे चरण में फ्रांसीसियों ने भारतीय नरेशों की सहायता करके अंग्रेजों की शक्ति को तोड़ने का असफल प्रयत्न किया। अंग्रेज और फ्रांसीसी दोनों ही व्यापार करने के लिए भारत आये थे और व्यापार के द्वारा मुनाफा कमाना दोनों ही का मुख्य लक्ष्य था। व्यापार से आरम्भ होकर अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी कम्पनियां भारत की राजनीति में अपरिहार्य रूप से उलझ गई। जब मुगल सत्ता क्षीण हो गई तथा दक्कन के सूबेदार कम्पनियों की रक्षा करने में असमर्थ हो गये तो कम्पनियों ने रक्षा के लिए स्वयं ही

खड्ग उठाई। भारत में ऐंग्लों–फ्रेंच–युद्ध, आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध से आरम्भ हुआ। 18 वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के सम्बन्ध भारत में बहुत अच्छे रहे। इसी कारण यद्दपि यूरोप में स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने एक–दूसरे के विरूद्ध युद्ध लड़ा परन्तु भारत में कुछ विशेश परिस्थितियों के कारण दोनों कम्पनियों के बीच कोई संघर्श नहीं हुआ। "अंग्रेज और फ्रान्सीसियों के सम्बन्ध इतने अच्छे थे कि फ्रान्सीसी अपना व्यक्तिगत और व्यापारिक सामान सुरक्षा की दृश्टि से पण्डिचेरी से मद्रास भेजा करते थे।" परन्तु अंग्रेज और फ्रांसीसियों के सम्बन्ध बहुत लम्बे समय तक अच्छे नहीं रह सकते थे। दोनों कम्पनियों का उद्देश्य भारत से व्यापार करके आर्थिक लाभ कमाना था। इस कारण दोनों की आर्थिक प्रतिद्वन्दिता अनिवार्य थी और इसी कारण बाद में राजनीतिक प्रतिद्वन्दिता आरम्भ हुई।

1.2 आंग्ल–फ्रांसीसी युद्ध की पृष्ठभूमि

1.2.1 कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–48) यह युद्ध आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का जो 1740 में आरम्भ हुआ था, विस्तार मात्र ही था। नवाब ने दोनों कम्पनियों को लड़ते हुए देखकर उन्हें आज्ञा दी कि वे युद्ध बन्द करे तथा देश की शान्ति भंग न करें। डूप्ले ने मद्रास को जीतकर नवाब को दे देने का प्रस्ताव किया था, परन्तु जब डूप्ले ने अपना वचन पूरा नहीं किया तो नवाब ने अपनी मांग स्वीकार करने के उद्देश्य से अपनी सेना भेजी। कैप्टिन पैराडाइज के अधीन एक छोटी सी फ्रांसीसी सेना ने जिसमें 230 फ्रांसीसी तथा 700 भारतीय सैनिक थे, महफूज खाँ के नेतृत्व में 10,000 भारतीय सेना को अय्यार नदी पर स्थित सेन्ट टोमे के स्थान पर पराजित कर दिया। यूरोप में युद्ध बन्द होते ही कर्नाटक का प्रथम युद्ध समाप्त हो गया। ए ला शापल की सन्धि (1748) से आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध समाप्त हो गया तथा मद्रास अंग्रेजों को पुनः मिल गया।

1.2.2– कर्नाटक का दूसरा युद्ध (1749–54) – कर्नाटक के प्रथम युद्ध से डूप्ले की राजनैतिक पिपासा जाग उठी तथा उसने फ्रांसीसी राजनैतिक प्रभाव के प्रसार के उद्देश्य से भारतीय राजवंशों के परस्पर झगड़ों में भाग लेने की सोची। द्वितीय कर्नाटक युद्ध का सूत्रपात था कि दोनों कम्पनियाँ हैदराबाद और कर्नाटक राज्यों के उत्तराधिकार के संघर्श में अलग–अलग पक्षों की गृह सरकारों की आज्ञा के विरुद्ध ही दोनों दलों ने 1746 में युद्ध आरम्भ हो गया। बारनैट के नेतृत्व में अंग्रेजी नौसेना ने कुछ फ्रांसीसी जल पोत पकड़ लिये। डूप्ले ने जो 1741 से पाण्डीचेरी का फ्रेंच गवर्नर–जनरल था, मॉरीशस स्थित फ्रांसीसी गवर्नर ला बूर्डोने से सहायता मांगी। ला बुर्डोने 3000 सैनिक लेकर कोरोमण्डल तट (मद्रास के पास का तट) की ओर चल पड़ा। रास्तें में उसने अंग्रेजी नौसेना को परास्थ किया। मद्रास को जल तथा थल दोनों और से फ्रांसीसियों ने घेर लिया। 21 सितम्बर को मद्रास ने आत्मसमर्पण कर दिया। युद्धबन्दियों में क्लाइव भी था। ला बूर्डोने का विचार इस नगर से फिरौती लेने का था परन्तु डूप्ले नहीं माना। ला बूर्डोने ने एक अच्छी राशि के बदले नगर लौटा दिया।

परन्तु डूप्ले ने इसकों स्वीकार नहीं किया तथा नगर पुनः जीत लिया। कर्नाटक का प्रथम युद्ध सेन्ट टोमें के युद्ध के लिए स्मरणीय है। यह युद्ध फ्रांसीसी सेना तथा कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन के नेतृत्व में भारतीय सेना के बीच लड़ा गया। झगड़ा फ्रांसीसियों द्वारा मद्रास की विजय पर हुआ। इस प्रकार इस झगड़े का दूसरा दौर भी अनिश्चित रहा। स्थल पर अंग्रेजी सेना की प्रधानता सिद्ध हो गई था तथा उनका प्रत्याशी मुहम्मद अली कर्नाटक का नवाब बन गया था। परन्तु हैदराबाद में अभी भी फ्रांसीसी सुदृढ़ अवस्था में थे तथा उन्होंने सूबेदार सालारजंग से और भी अधिक जागीर प्राप्त कर ली।

1.2.3–कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1758–63) – यह युद्ध भी यूरोपीय संघर्श का ही भाग था। 1756 में सप्तवर्शीय युद्ध के आरम्भ होते ही भारत में दोनों कम्पनियों के बीच शान्ति समाप्त हो गई। फ्रांसीसी सरकार ने अप्रैल 1757 में काउन्ट लाली को भारत भेजा। लगभग 12 मास की यात्रा के पश्चात् अप्रैल 1758 में वह भारत पहुंचा। इसी बीच अंग्रेज सिराजुद्दौला को पराजित कर बंगाल पर अपना अधिकार स्थापित कर चुके थे। इसके कारण अंग्रेजों को अपार धन मिला जिससे वे फ्रांसीसियों को दक्कन में पराजित करने में सफल हुए। काऊंट लाली ने 1758 में ही फोर्ट सेन्ट डेविड जीत लिया। इसके पश्चात् उसने तंजौर पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी क्योंकि उस पर 56 लाख रुपया शेश था। यह अभियान असफल रहा जिससे फ्रांसीसी ख्याति को हानि पहुंची। इसके पश्चात् लाली ने मद्रास को घेर लिया परन्तु एक शक्तिशाली नौसेना आने पर उसे यह घेरा उठाना पड़ा। फिर लाली ने बुस्सी को हैदराबाद से वापिस बुला लिया। मदद कर अपने प्रभाव का विस्तार दक्षिण भारत में करना चाहती था। आसफजाह जिसने दक्कन में लगभग स्वातन्त्रतापूर्ण राज्य बना लिया था, 21 मई, 1748 को स्वर्ग सिधार गया। उसका पुत्र नासिरजंग (1748–50) उसका उत्तराधिकारी बना। परन्तु उसके भतीजे (आसफजाह के पौत्र) मुजफ्फरजंग ने इस दावे को चुनौती दी। दूसरी ओर कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन तथा उसके बहनोई चन्दा साहिब के बीच विवाद था। शीघ्र ही ये दोनों विवाद एक बड़े विवाद में परिवर्तित हो गए और हमें दलों के बनने तथा टूटने की क्रिया का प्रदर्शन मिला। 1752 में स्ट्रिंगर लॉरेन्स के नेतृत्व में एक अंग्रेजी सेना ने त्रिचनापल्ली को बचा लिया तथा जून 1752 में घेरा डालने वाली फ्रांसीसी सेना ने अंग्रेजों के आगे हथियार डाल दिए। चन्दा साहिब को भी धोखे से तंजौर के राजा ने हत्या कर दी। त्रिचनापल्ली में फ्रासीसी हार से डूप्ले के भाग्य का सर्वनाश हो गया। फ्रांसीसी कम्पनी के डाइरेक्टरों ने इस युद्ध में हुई धन की हानि के लिए डूप्ले को वापिस बुला लिया। 1754 में गोडेहू को भारत में फ्रांसीसी प्रदेशों का गवर्नर जनरल तथा डूप्ले का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया तथा 1755 में दोनों कम्पनियों के बीच एक अस्थायी सन्धि हो गई। यह उसकी सबसे बड़ी भूल थी। इसके कारण वहाँ फ्रान्सीसियों की स्थिति कमजोर हो गई। 1760 में सर आयर कूट ने वन्दिवाश के स्थान पर फ्रांसीसियों को बुरी तरह पराजित किया। बुस्सी युद्धबन्दी बना लिया गया। जनवरी 1761 फ्रांसीसी पूर्ण पराजय के पश्चात् पाण्डीचेरी लौट

आए। अंग्रेजों ने इसे भी घेर लिया तथा 8 मास पश्चात् फ्रांसीसियों ने इस नगर को भी शत्रु के हवाले कर दिया। शीघ्र ही माही तथा जिंजी भी इनके हाथ से निकल गए। इस प्रकार आंग्ल–फ्रांसीसी प्रतिद्वन्दिता का नाटक समाप्त हो गया तथा फ्रांसीसी हार गए। कर्नाटक अपनी धन सम्पदा के लिए प्रसिद्ध था। दिल्ली के सैयद बन्धुओं के प्रभाव से मुगल सम्राट ने मराठों को कर्नाटक से चौथ वसूल करने का अधिकार दे दिया था। जब मराठों ने कर्नाटक के नवाब दोस्त अली से चौथ की धनराशि मांगी और उसने यह धनराशि नहीं दी तो मराठों ने 1740 ई0 में कर्नाटक पर आक्रमण करके नवाब दोस्तअली को परास्त कर दिया। डूप्ले एक उत्तम नेता होते हुए भी फ्रांसीसियों की हार के लिए उत्तरदायी है वह राजनैतिक शड्यन्त्रों में इतना उलझ गया कि इसने इन झगड़ों के कुछ पक्षों की ओर ध्यान ही नहीं दिया।

1.1. आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध के कारण

आंग्ल फ्रांसीसी के मध्य युद्व के कई महत्वपूर्ण कारण दृष्टिगत होते है–जिसमे से पारस्परिक व्यापारिक प्रतिस्पर्द्वा को प्रमुख कारण माना जाता है कि दोनो भारत के विदेशी व्याापार पर एकाधिपत्य स्थापित करना चाहते थे। इसके साथ ही दोनो शासकों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा ने युद्व की स्थिति उत्पन्न कर दी। इसके साथ ही दोनो के बीच औपनेविशिक प्रतिस्पर्द्वा की स्थिति के कारण युद्व होना अनिवार्य हो गया था।

1.2. आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध के परिणाम

फ्रांसीसियों ने एक समय में अपनी राजनैतिक विजयों से भारतीय संसार को स्तब्ध कर दिया था। अन्ततः वे हार गए। अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी सम्राटों की यूरोपीय महत्वाकांक्षाओं के कारण उनके साधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ा। इंग्लैण्ड अपने आप को यूरोप से पृथक मानता था तथा उसकी उस प्रदेश में प्रसार की कोई इच्छा नहीं थी। यूरोप में उसकी भूमिका केवल शक्ति–संतुलन बनाए रखने की ही थी। वह एकचित होकर अपने उपनिवेशों के प्रसार में लगा हुआ था। उसे निश्चय ही सफलता मिली और उसने भारत तथा उत्तरी अमरीका में फ्रांस को पछाड़ दिया। फ्रांसीसी सरकार स्वेच्छाचारी थी तथा सम्राट के व्यक्तित्व पर ही निर्भर करती थी। महान सम्राट लुई चौदहवे (1648–1715) के काल से ही इस प्रशासन की कमजोरियां स्पश्ट हो रही थीं। उस काल के अनेक युद्धों के कारण वित्तीय परिस्थिति बिगड़ गई थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् यह अवस्था और भी बिगड़ गई। उसके उत्तराधिकारी लुई पन्द्रहवें ने अपनी रखैलों, कृपा पात्रों तथा ऐश्वर्य साधनों पर और भी धन लुटाया। दूसरी ओर इंग्लैण्ड में एक जागरुक अल्पतंत्र राज्य कर रहा था। हिग दल के अधीन उन्होंने संवैधानिक व्यवस्था की ओर कदम बढ़ाए। यह उत्तम व्यवस्था थी तथा इसने देश को दिन प्रतिदिन शक्तिशाली बना दिया।ण

1.3. सारांश

कर्नाटक के युद्धों ने यह स्पश्ट कर दिया कि कम्पनी के भाग्य का उदय अथवा नौसेना की शक्ति पर निर्भर था। 1746 में फ्रांसीसी कम्पनी को पहले समुद्र में फिर थल पर विशिश्टता प्राप्त हुई। इसी प्रकार 1748–51 तक भी जो सफलता डूप्ले को मिली वह उस समय मिली थी जब अंग्रेजी नौसेना निश्क्रिय थी। सप्तवर्शीय युद्ध के दिनों में यह पुनः सक्रिय हो गई। उसकी वरिश्ठता के कारण काऊंट लाली, डूप्ले जितनी सफलता प्राप्त नहीं कर सका और जब द्रआश भारतीय समुद्रों से चला गया तो मार्ग अंग्रेजों के लिए बिल्कुल साफ था तथा अंग्रेजों की विजय में कोई सन्देह नहीं रह गया था। वाल्टेयर के अनुसार ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध में फ्रांस की जल शक्ति का इतना ह्रास हुआ कि सप्तवर्शीय युद्ध के समय उसके पास एक भी जल पोत नहीं था। फ्रांसीसी कम्पनी सरकारी कम्पनी थी कोई भी निर्णय लेते समय इसमें अधिक समय लगता, जबकि ब्रिटिश कम्पनी व्यक्तिगत व्यापारिक कम्पनी थी इस कारण निर्णय त्वरित हो जाता था। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारत, एंग्लों–फ्रेंच औपनिवेशिक झगड़े के भिन्न युद्धस्थलों में से एक था तथा उसमें अंग्रेज निश्चय ही अधिक भाग्यशाली तथा सफल सिद्ध हुए। इस युद्ध ने भारत में यूरोपियों की आँख खोल दी। इस युद्ध ने स्पश्ट कर दिया कि एक छोटी अनुशासित सेना भी बहुत बड़ी भारतीय सेना को आसानी से पराजित कर सकती है। इसके अतिरिक्त इस युद्ध ने दक्कन में एंग्लो–फ्राँसीसी संघर्श में नौ–सेना बल के महत्व को उजागर कर दिया।

1.4. बोध प्रश्न

1. कर्नाटक युद्व के परिणामों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. आग्ल–फ्रासीसी युद्व के परिणामों एवं प्रभावों का वर्णन कीजिए।

1.5. सहायक ग्रन्थ

- ग्रोवर, बी0एल0 मेहता, अलका यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास नई दिल्ली, 2008
- शर्मा एल0पी0 आधुनिक भारत का इतिहास, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2016

इकाई 2
प्लासी का युद्ध पृष्ठभूमि, कारण एवं परिणाम

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 प्लासी का युद्ध पृष्ठभूमि

2.2.1 प्लासी का युद्ध कारण

2.2.2 प्लासी का युद्ध परिणाम

2.3 सारांश

2.4 बोध प्रश्न

2.5 सहायक ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेगें–

- प्लासी युद्व की पृष्ठभूमि के विषय में।
- प्लासी युद्व के प्रभावों के विषय में।

2.1 प्रस्तावना

अलीवर्दी खां की मृत्यु के पश्चात उसका दौहित्र सिराजुद्दौला उसका उत्तराधिकारी बना। नए नवाब को अपने प्रतिद्वन्द्वी पूर्णिया के नवाब शौकतजंग और अपनी मौसी घसीटी बेगम के अतिरिक्त अंग्रेजों से निबटना था। उधर अंग्रेजों ने घसीटी बेगम को प्रत्यक्ष रूप से समर्थन दिया तथा बंगाल के भगोड़ों को भी शरण दी। जब सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों को इन जघन्य कार्यों से रोका तो उन्होंने टालमटोल की। इन्हीं परिस्थितियों में सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों के विरूद्ध अभियान किया जिसके फलस्वरूप प्लासी का युद्ध हुआ।

2.2 प्लासी का युद्ध पृष्ठभूमि

कलकत्ता के पतन का समाचार पाकर क्लाइव एवं वाटसन के नेतृत्व में एक सेना बंगाल पहुची। क्लाइव ने मानिकचन्द को घूस देकर कलकत्ता पर अधिकार कर लिया। सिराजुद्दौला ने देखा कि उसकी आज्ञा का उसी के राज्य में उल्लंघन हो रहा है तो उसने अंग्रेजों के विरूद्ध अभियान किया। 15 जून, 1756 को फोर्ट विलियम घेर लिया गया तथा 5 दिन पश्चात उसने आत्मसमर्पण कर दिया। गवर्नर रॉजर ड्रेक तथा प्रमुख नागरिक पृष्ठ द्वार से निकल

भागे। नवाब कलकत्ता को मानिक चन्द्र के हाथ दे कर स्वयं मुर्शिदाबाद लौट गया। जब कलकत्ता के पतन का समाचार मद्रास पहुंचा, वहां के अधिकारियों ने एक सेना जो उन्होंने फ्रांसीसियों के विरूद्ध युद्ध के लिए गठित की थी, क्लाइव के नेतृत्व में कलकत्ते भेज दी। क्लाइव को अपना कार्य शीघ्रतिशीघ्र पूर्ण करने को कहा गया क्योंकि सेना फ्रांसीसियों के विरूद्ध युद्ध के लिए मद्रास में चाहिए थी। यह सेना 16 अक्टूबर को मद्रास से चली और 14 दिसम्बर को बंगाल पहुंची। नवाब के प्रभारी अधिकारी मानिक चन्द्र ने घूस लेकर, कलकत्ता अंग्रेजों को सौंप दिया। नवाब के प्रमुख अधिकारी उससे असन्तुश्ट थे। क्लाइव ने इसका लाभ उठाकर एक शड्यन्त्र रचा जिसमें नवाब का प्रधान सेनापति मीर जाफर, बंगाल का एक प्रभावशाली साहूकार जगत सेठ, राय दुर्लभ तथा अमीनचन्द्र एक बिचौलिए के रूप में सम्मिलित हुए। निश्चय हुआ कि मीर जाफर को नवाब बना दिया जाए और वह इसके लिए कम्पनी को कृतार्थ करेगा तथा उसकी हानि की क्षति पूर्ति भी करेगा।

अंग्रेजों ने मार्च 1757 में फ्रांसीसी बस्ती चन्द्रनगर को जीत लिया। नवाब इससे बहुत कुद्र हुआ। एक ऐसे समय जब नवाब को उत्तर–पश्चिम की ओर से अफगानों तथा पश्चिम की ओर से मराठों का भय था, ठीक उसी समय क्लाइव ने सेना सहित नवाब के विरूद्ध मुर्शिदाबाद की ओर प्रस्थान किया। 23 जून, 1757 को प्रतिद्वन्द्वी सेनाएं मुर्शिदाबाद के दक्षिण में 22 मील की दूरी पर स्थित प्लासी गांव में आमों के निकुंज में टकराई। अंग्रेजी सेना में 950 यूरोपीय पदाति, 100 यूरोपीय तोपची, 50 नाविक तथा 2100 भारतीय सैनिक थे। नवाब की सेना 50,000 का नेतृत्व विश्वासघाती मीर जाफर कर रहा था। नवाब की एक अग्रगामी टुकड़ी जिसके नेता मीर मदान तथा मोहन लाल थे, अंग्रेजों से बाजी ले गई और उसने क्लाइव को वृक्षों के पीछे शरण लेने पर बाध्य कर दिया। सहसा एक गोली से मीर मदान मारा गया। नवाब सिराजुद्दौला ने अपने प्रमुख अधिकारियों से मन्त्रणा की। मीर जाफर ने उसे पीछे हटने को कहा तथा यह भी कहा गया कि सिराज को सेना का नेतृत्व जरनैलों के हाथों में छोड़, युद्धक्षेत्र में चला जाना चाहिए। चाल चल गई। सिराज 2000 घुड़सवारों सहित मुर्शिदाबाद लौट गया। फ्रांसीसी टुकड़ी जो अभी तक जमी हुई थी, शीघ्र ही हार गई। मीर जाफर केवल देखता रहा। मैदान क्लाइव के हाथ रहा। मीर जाफर ने क्लाइव को बधाई दी। मीर जाफर 25 जून को मुर्सिदाबाद लौट गया उसने अपने आपको नवाब घोशित कर दिया। सिराज को बन्दी बना लिया गया तथा उसकी हत्या कर दी गई।

2.2.1 प्लासी युद्व के कारण

बंगाल मुगल साम्राज्य का सबसे उपजाऊ और सबसे अमीर प्रांत था और इसमें वर्तमान बांग्लादेश, बिहार और ओडिशा राज्य शामिल थे। इस प्रांत की आधिकारिक शक्तियाँ बंगाल के नवाब के हाथों में थी।बंगाल अपने प्रसिद्ध वस्त्रों, रेशम और नमक के लिये आर्थिक महत्व रखता था। भारत में बंगाल अंग्रेजों के नियंत्रण में आने वाला पहला राज्य था। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस प्रांत के व्यापार से बहुत लाभ कमाया। एशिया से होने वाले कुल ब्रिटिश

आयात में लगभग 60 प्रतिशत बंगाल की वस्तुएँ शामिल थी। ब्रिटिश कंपनी को प्राप्त विशेशाधिकारों का बंगाल के नवाबों ने कड़ा विरोध किया क्योंकि इससे प्रांतीय राजकोश को भारी नुकसान हुआ। नतीजतन ब्रिटिश का वाणिज्यिक हित बंगाल सरकार से संघर्श का मुख्य कारण बन गया। अतः अंग्रेजों को बंगाल के सिंहासन पर नवाब के रूप में एक 'कठपुतली' की आवश्यकता महसूस हुई।

2.2.2 प्लासी युद्व का परिणाम

प्लासी के युद्ध का सामरिक महत्व कुछ नहीं था। यह एक छोटी सी झड़प थी जिसमें कम्पनी के कुल 65 व्यक्ति तथा नवाब के 5000 व्यक्ति काम आये। अंग्रेजों ने किसी विशेश सामरिक योग्यता तथा चातुर्य का प्रदर्शन नहीं किया। नवाब के साथियों ने विश्वासघात किया। मीर मदान के वीर गति प्राप्त करने के पश्चात विश्वासघातियों का ही बोलबाला था यदि मीर जाफर तथा रायदुर्लभ राजभक्त रहते तो युद्ध का परिणाम भिन्न होता।

प्लासी का युद्ध उसके पश्चात् होने वाली घटनाओं के कारण ही महत्वपूर्ण है। बंगाल अंग्रेजों के अधीन हो गया और फिर स्वतन्त्र नहीं हो सका। नया नवाब मीर जाफर अपनी रक्षा तथा पद के लिए अंग्रेजों पर निर्भर था। उनकी 6000 सेना उसकी रक्षा के हेतु बंगाल में स्थित थी। शनैः शनैः समस्त शक्ति कम्पनी के हाथों में चली गई। उसकी असमर्थता का अनुमान इस बात से लगा सकते हैं कि वह दीवान राय दुर्लभ तथा राम नारायण को उनके विश्वासघात के लिए दण्डित करना चाहता था परन्तु कम्पनी ने उसे रोक दिया। अंग्रेज रेजिडेन्ट वाट्स का विशेश प्रभाव था। प्लासी के युद्ध तथा उसके पश्चात् होने वाली लूट ने (क्योंकि उसके पश्चात् होने वाले व्यापार को हम केवल लूट की संज्ञा दे सकते हैं) अंग्रेजों को अनंत साधनों का स्वामी बना दिया। पहली किस्त जो अंग्रजों को मिली वह 8 लाख पौंड की थी जो चांदी के सिक्कों के रुप में ही थी। मैकाले के अनुसार यह धन कलकत्ता को एक सौ से अधिक नावों में भर कर लाया गया। बंगाल उस समय भारत का सबसे धनाढ्य प्रान्त था और उद्योग तथा व्यापार में सबसे आगे था। कम्पनी की स्थिति का भी कायाकल्प हो गया। पहले वह बहुत सी विदेशी कम्पनियों में से एक थी जिसे नवाब के अधिकारियों को धन देना पड़ता था। अब उसका बंगाल के व्यापार पर एकाधिकार हो गया।

2.3 सारांश

मीरजाफर के बाद जब अंग्रजों ने मीरकासिम को शासक बनाया तो मीरकासिम ने अंग्रेजों की कठपुतली से बाहर निकलना चाहता था। प्लासी युद्ध जीतने के अगले दिन ही अंग्रेज, बिहार तथा उड़ीसा के स्वामी बन गये। आने वाले 100 वर्शों में जो जुआ प्लासी से गले में पड़ गया था उसे उतार फेंकने का केवल एक ही प्रयत्न किया गया। दूसरी ओर अंग्रेजों को एक आधारशिला मिल गई जो समुद्री तट पर स्थित थी तथा जिसका उपयोग करके वे न केवल अपनी शक्ति सिन्ध से दूर पार पहुँचा पाए अपितु वे दुर्जेय हो गए। वे उन लोगों को भी

प्रभावित करने में सफल हुए जिनके विशय में यूरोपीय पूर्णरूपेण अनभिज्ञ थे।

प्लासी के युद्ध के कारण इंग्लैण्ड पूर्वी समस्या के समाधान में विशेश भूमिका निभाने लगा। यह प्लासी ही थी जिसके कारण वह आशा अन्तरीप और मॉरीशस को जीतने तथा उपनिवेश बनाने पर बाध्य हुआ तथा मिश्र को संरक्षण में लेने पर बाध्य हुआ। यह प्लासी ही थी जिसने अंग्रेज मध्यवर्ग के युवकों को अपनी प्रतिभा तथा उद्योग को बढ़ाने का अवसर दिया तथा उसके अभिजात वर्ग को अपनी प्रशासनिक प्रतिभा दिखाने का अद्वितीय अवसर दिया। सैनिक दृश्टि से प्लासी का युद्ध महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। यद्यपि नवाब की सेना अंग्रेजों की सेना से बहुत बड़ी थी परन्तु उसकी अधिकांश सेना ने युद्ध में भाग नहीं लिया था। अंग्रेजों के केवल 65 व्यक्ति मारे गये थे और नवाब के 500 सैनिक। मीर जाफर और दुर्लभराय दोनों ने युद्ध के मैदान में सिराजुद्दौला को धोखा दिया, परन्तु प्लासी का युद्ध बंगाल में बाद की घटनाओं की दृश्टि से बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अंग्रेजों को इससे आर्थिक लाभ हुआ। अंग्रेजों ने 1757 ई0 में सबसे पहले कलकत्ता में टकसाल स्थापित की और अपना सिक्का चलाया। कम्पनी के सभी बड़े कर्मचारियों और स्वयं क्लाइव को मीरजाफर ने बहुमूल्य उपहार भेंट–स्वरूप दिये। बंगाल उस समय भारत का एक सम्पन्न सूबा था। नवाब मीरजाफर नाममात्र का शासक था। वह अंग्रेजों की सहायता से नवाब बना था और उन्हीं की सहायता से अपनी शक्ति को स्थापित रख पा रहा था। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज ही बंगाल के मालिक बन गये थे। इतिहासकार के० एम० पन्निकर के अनुसार यह एक सौदा था जिसमें बंगाल के धनी सेठों तथा मीर जाफर ने नवाब के अंग्रजों के हाथ बेच डाला।

2.4 बोध प्रश्न

1.प्लासी युद्व की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

2. प्लासी युद्व के प्रभावों एवं परिणामों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2.5 सहायक ग्रन्थ

- ग्रोवर, बी0एल0 मेहता, अलका यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास नई दिल्ली, 2008
- शर्मा एल0पी0 आधुनिक भारत का इतिहास, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2016

इकाई 3 –
पानीपत का तृतीय युद्ध, पृष्ठभूमि एवं महत्व

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 पानीपत का तृतीय युद्ध

3.2.1 पानीपत का तृतीय युद्ध की पृष्ठभूमि

3.2.2 पानीपत का तृतीय युद्ध का महत्व

3.3 सारांश

3.4 बोध प्रश्न

3.5 सहायक ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेगें–

- पानीपत के तृतीय युद्व की पृष्ठभूमि के विषय में।
- प्लासी युद्व के प्रभावों के विषय में।

3.1 प्रस्तावना

मुगल बादशाह की दुर्बलता, उसके सरदारों का दो दलों में विभाजित होना, मराठों का मुगल बादशाह को सहायता देने का वादा और उससे भी अधिक उत्तर–भारत में मराठा शक्ति के विस्तार की महत्वाकांक्षा तथा दूसरी ओर अहमदशाह अब्दाली की भारत के विदेशी मुसलमानों को सहायता देने की नीति और पंजाब व मुल्तान आदि पर अपनी सत्ता स्थापित करने की इच्छा पानीपत के तृतीय युद्ध के प्रमुख कारण बने। 1759 के अन्तिम दिनों में अब्दाली ने सिन्ध नदी पार की तथा पंजाब को रौंद डाला। साबाजी तथा दत्ताजी सिन्धिया उसे रोकने में असमर्थ रहे और दिल्ली की ओर लौट गए। दिल्ली के उत्तर में लगभग 10 मील दूर बराड़ी घाट के छोटे से युद्ध में दत्ता जी मारे गए। जनकोजी सिंधिया तथा मल्हार राव होल्कर भी अब्दाली को रोकने में असमर्थ रहे।

उत्तर में मराठा शक्ति की पुनः स्थापना के लिए पेशवा ने सदाशिव भाऊ को दिल्ली भेजा। भाऊ ने 22 अगस्त, 1760 को दिल्ली पर अधिकार कर लिया। 7 अक्टूबर को उसने कुंजपुरा जीत लिया ताकि आक्रान्ता को उत्तर की ओर खदेड़ दे तथा दिल्ली पर दबाव कम

हो जाए। नवम्बर, 1760 में दोनों सेनाएं पानीपत के मैदान में आमने–सामने खड़ी हो गई। दोनों ओर आपूर्ति की कठिनाइयां थी और वे शान्ति के लिए बातचीत कर रहे थे। चूंकि कुछ निर्णय नहीं हो सका अतएव 14 जनवरी, 1761 को पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ। मैदान मराठों के हाथ रहा। इब्राहीम गार्दी के तोपखाने ने अब्दाली की सेना को बहुत हानि पहुँचायी परन्तु शाम तक सम्पूर्ण मराठा सेना भाग गयी अथवा कत्ल कर दी गयी। पेशवा का ज्येश्ठ पुत्र विश्वासराव, सदाशिवराय, जसवन्तराव पवार, तुकोजी सिन्धिया आदि युद्ध में मारे गये। इब्राहीम गार्दी और जानकोजी सिन्धिया बाद में कत्ल कर दिये गये। महादजी सिन्धिया घायल होकर भाग गया। दूसरे दिन मराठों का कत्ल जारी रहा। महाराश्ट्र में एक भी परिवार ऐसा न था जिसने अपने किसी न किसी व्यक्ति की मृत्यु पर शोक न मनाया हो।

3.2 पानीपत का तृतीय युद्व पृष्ठभूमि

मुगल साम्राज्य के पतन ने उत्तरी भारत में शक्ति शून्य उत्पन्न कर दिया था। नादिरशाह का उत्तराधिकारी अहमदशाह अब्दाली भी अपने पूर्वज की भाँति भारत को लूटना चाहता था। दूसरी ओर हिन्दू पद पादशाही की भावना से प्रेरित मराठे दिल्ली पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। वे अपने आपको मुगल राज्य का आन्तरिक तथा बाह्य रक्षक मानते थे। 1752 में नवाब वजीर सफदर जंग ने मराठों से एक सन्धि की थी जिसमें अन्य शर्तों के अतिरिक्त उन्हें पंजाब, सिन्ध तथा दोआब से चौथ प्राप्त करने का अधिकार दे दिया था। उसके बदले मराठों को मुगल साम्राज्य की आन्तरिक तथा बाह्य खतरों से रक्षा करनी थी। यद्यपि यह सन्धि सम्राट द्वारा स्वीकृत नहीं हुई थी, परन्तु फिर भी इससे उनकी उत्तर में राज्य प्राप्त करने की पिपासा जाग उठी थी अतएव मराठों तथा अहमदशाह के बीच टक्कर निश्चित थी।

1757 में अब्दाली नजीबुद्दौला को दिल्ली के मीर बख्शी के रूप में छोड़ गया और उसे वजीर इमादुलमुल्क की महत्वकाँक्षाओं के विरुद्ध चेतावनी दे गया, परन्तु आलमगीर द्वितीय ने यह अनुभव किया कि नजीब तो वजीर से बुरा था क्योंकि वजीर उच्चकुल से होने के कारण इतना अशिश्ट नहीं था। इस पर वजीर ने मराठों से नजीब के विरुद्ध सहायता मांगी। मई 1757 में मराठा सरदार रघुनाथ राव दिल्ली आए। वजीर गाजिउद्दीन को अपनी ओर मिला लिया तथा नजीब को नजीबाबाद लौटने पर बाध्य कर दिया। मार्च 1758 में रघुनाथ राव पंजाब की ओर बढ़ा और अब्दाली के पुत्र राजकुमार तैमूर को पंजाब से निकाल दिया। अगले कुछ महीनों में मराठे अटक तक पहुँच गए। उन्होंने अदीनाबेग खां को 75 लाख रुपया वार्शिक कर के बदले पंजाब कर गवर्नर नियुक्त कर दिया। अदीनाबेग की मृत्यु के पश्चात साबाजी सिन्धिया ने ये पद सम्भाल लिया।

मराठों की पंजाब विजय पठानों को सीधी चुनौती थी तथा अब्दाली ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर नजीब और बंगश पठानों ने अब्दाली को प्रेरणा दी कि

वह दिल्ली से काफिरों को निकाल दे। अब्दाली ने पूर्ण सहायता का वचन दिया। नजीब ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा रुहेला सरदार हाफिज रहमत खां, सादुल्लाखां तथा दुन्दी खां का समर्थन भी दिलवाया, दूसरी ओर गाजीउद्दीन ने 30 नवम्बर, 1759 को सम्राट आलमगीर द्वितीय का वध कर दिया जिससे अहमदशाह अब्दाली के प्रबन्ध अस्तव्यस्त हो गए। वह दिल्ली आकर अपराधी को दण्ड देना चाहता था। सिडनी ओवन के अनुसार अहमदशाह सम्राट तथा विजेता ही नहीं अपितु अफगान था। अतएव वह रुहेलों से सहानुभूति रखता था और एक कट्टर मुस्लिम होने के कारण वह मराठों के अपने सहधर्मियों के विरुद्ध अभियानों का विरोधी था। एतएव उसने युद्ध की ठान ली। सदाशिवराव भाऊ अपनी समस्त सेना को उदगीर से लेकर सीधे दिल्ली की ओर रवाना हो गए जहाँ वे लोग 1760 ई० में दिल्ली पहुंचे। उस वक्त अहमदशाह अब्दाली दिल्ली पार करके अनूप शहर यानी दोआब में पहुँच चुका था और वहाँ पर उसने अवध के नवाब सुजाउद्दौला और रोहिल्ला सरदार नजीबउद्दौला ने उसको रसद पहुंचाने का काम किया।

इधर जब मराठे दिल्ली में पहुँचे तो उन्होंने लाल किला जीत लिया जिसके बाद उन्होंने कुंजपुरा के किले पर हमला कर दिया। कुंजपुरा में अफगान को पूरी तरह तबाह करके उनसे सभी सामान और खाने–पीने की आपूर्ति मराठों को हो गई। मराठों ने लाल किले की चांदी की चादर को भी पिघला कर उससे भी धन अर्जित कर लिया।

3.2.1 पानीपत का तृतीय युद्ध का महत्व

मराठों के भाग्य पर इस युद्ध के प्रभाव के विशय में इतिहासकारों के भिन्न–भिन्न मत है। मराठा इतिहासकारों का विश्वास है कि मराठों ने 75,000 व्यक्तियों के अतिरिक्त राजनैतिक महत्व का कुछ नहीं खोया। अब्दाली को भी इससे कोई विशेश लाभ नहीं हुआ। जी०एस० सरदेसाई लिखते हैं, "युद्धस्थल में मराठों के सैन्य बल की इतनी अधिक क्षति हुई, इसके अतिरिक्त इस युद्ध ने कुछ भी निर्णय नहीं किया। इस जाति के दो प्रमुख व्यक्तियों नानाजी फड़नवीस तथा महादजी सिंधिया ने जो भाग्य से इस घातक दिन मृत्यु के हाथों बच गए, मराठों की शक्ति को पुनर्जीवित कर दिया था पुनः इनके भाग्य को पूर्णरुपेण चमकाया।

पानीपत के युद्ध के पश्चात् शीघ्र ही मराठा शक्ति पहले की भाँति पुनः उभरने लगी तथा अपने 40 वर्शों तक वह फिर एक प्रमुख शक्ति रहे। लगभग महादजी सिंधिया की मृत्यु पर्यन्त अथवा जब तक अंग्रेजों ने दूसरे मराठा युद्ध में अपनी सर्वोच्चता स्थापित नहीं कर ली, मराठे एक प्रमुख शक्ति बने रहे। पानीपत की दुर्घटना एक प्राकृतिक दुर्घटना की भाँति थी। जिसमें जान हानि अवश्य हुई परन्तु राजनैतिक महत्व कुछ नहीं था। यह कहना कि पानीपत की दुर्घटना में मराठों की सर्वोच्चता के स्वप्न को समाप्त कर दिया, तात्कालिक स्त्रोतों की अशुद्ध व्याख्या करना है।" दूसरी ओर सर जादूनाथ सरकार का मत इस प्रकार है, "मराठा इतिहासकारों की एक परम्परा बन गई है कि पानीपत के युद्ध के राजनैतिक परिणामों को घटा कर दिखाने का प्रयत्न किया जाए परन्तु भारतीय इतिहास का वास्तविक सर्वेक्षण स्पश्ट

बतलाता है कि यह दावा केवल उग्र राश्ट्रवाद ही है यह ठीक है कि मराठा सेना ने 1772 में निर्वासित मुगल सम्राट को पुनः सिंहासन पर बैठा दिया परन्तु सम्राट निर्माता अथवा मुगल साम्राज्य के नाम मात्र मंत्रियों तथा सेनापतियों के वास्तविक स्वामी के रुप में नहीं। यह गौरवमय पद तो महादजी सिंधिया को 1789 में प्राप्त हुआ तथा अंग्रेजों को 1803 में।"

3.3 सारांश

मराठों की अत्यधिक सैनिक हानि हुई लगभग एक लाख लोगों में से कुछ ही बच पाए थे। यह हानि इतनी अधिक थी कि तीन मास तक तो पेशवा को हानि का ठीक अनुमान ही नहीं लगा कि उसके सरदारों का क्या बना। पेशवा इस महान शोक के कारण चल बसे। सर जादूनाथ सरकार आगे लिखते हैं, "इस युद्ध के फलस्वरुप बालाजी बाजीराव सहित लगभग सभी प्रमुख मराठा नेता समाप्त हो गए तथा रघुनाथ दादा जो मराठा इतिहास का सबसे निकृश्ट व्यक्ति था, कि स्वार्थलिप्सा के लिए द्वार खुल गए। दूसरी हानियां तो समय के साथ–साथ पूरी हो सकती थीं। परन्तु पानीपत की पराजय का सबसे बड़ा दुश्परिणाम यही था।" इस युक्ति को जी० एस० सरदेसाई यों काटते हैं, "पानीपत ने स्वयं मराठों को राजनीति तथा युद्धक्षेत्र में एक नया अनुभव दिया।

इससे इनका राश्ट्रीय गर्व ऊंचा उठा जैसा कि और अन्य अनुभव नहीं कर सकता था। इस महाविपत्ति से उनके संकल्प कम नहीं हो गए अपितु और चमके क्योंकि उन्नत होते हुए राश्ट्रों के पथ पर उतार–चढ़ाव आते ही हैं। दत्ताजी, जकोजी, इब्राहिम खां तथा सदाशिव जैसे महान सैनिकों की मृत्यु निश्फल नहीं हुई। वे अपने राश्ट्र के माथे पर अपने चिन्ह छोड़ गए हैं, और उन्हें उन प्रयत्नों के लिए तैयार किया जो तरुण पेशवा माधव राव ने वास्तव में किए। मृत्यु से ही जन्म होता है। यह कथन पूर्णतया सत्य है। यद्यपि एक पीढ़ी समाप्त हो गई परन्तु एक नवीन पीढ़ी उनका स्थान लेने के लिए आगे आई तथा देश की सेवा पहले की भाँति होने लगी। महाराश्ट्र के प्रत्येक परिवार ने इस विपत्ति को अपनी विपत्ति समझा तथा सभी लोग राश्ट्र के आह्यन पर उट खड़े हुए।" पानीपत के युद्ध ने निश्चय ही भारतीय राजनैतिक क्षेत्रों में मराठा प्रतिश्ठा को ठेस पहुंचाई। वे मराठे जो अपने आश्रितों तथा अपने आप की रक्षा नहीं कर सके एक खोखले बांस की भाँति निःशक्त समझे जाने लगे। उनका समस्त भारत पर राज्य बनाने का स्वप्न टूट गया। यह सत्य है कि उन्होंने 1772 में और 1789 में मुगल सम्राट को पुनः संरक्षण दिया परन्तु उन्होंने पंजाब तथा मुल्तान को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया तथा न ही सीमा रक्षकों की भूमिका निभाने की सोची।

एक अन्य लेखक सिडनी ओवन इस युद्ध के विशय में यों लिखते हैं, "इससे मराठा शक्ति, कुछ काल के लिए चूर–चूर हो गई। यद्यपि यह बहुमुखी दैत्य मरा तो नहीं परन्तु इतनी भली–भाँति कुचला गया कि यह लगभग सोया रहा तथा जब यह जागा तो अंग्रेज इससे निबटने कि लिए तैयार थे तथा अन्त में इसे जीतने तथा समाप्त करने में सफल हुए।"

निश्चय ही इस युद्ध ने भारत में अंग्रेजों के उत्थान के लिए मार्ग खोल दिया। अप्रत्यक्ष रूप से पानीपत के युद्ध ने भारत में सर्वोच्चता के संघर्श के लिए एक अन्य प्रतिद्वन्दी ला खड़ा किया। वास्तव में यह इस युद्ध का सीधा परिणाम था अतएव इसने भारतीय इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया।"

पानीपत का युद्ध भारत के इतिहास का सबसे काला दिन रहा। और इसमें कई सारे महान सरदार मारे गए जिस देश के लिए लड़ रहे थे और अपने देश के लिए लड़ते हुए सभी श्रद्धालुओं की मौत हो गई। इस युद्ध के बाद खुद अहमदशाह दुर्रानी ने मराठों की वीरता को लेकर उनकी काफी तारीफ की और मराठों को सच्चा देशभक्त भी बताया। इस युद्ध में मराठा के लगभग सभी छोटे–बड़े सरदार मारे गए इस संग्राम पर टिप्पणी करते हुए जे०एन० सरकार जादुनाथ सरकार ने लिखा है इस देशव्यापी विपत्ती में संभवतः महाराश्ट्र का कोई ऐसा परिवार न होगा जिसका कोई न कोई सदस्य इस युद्ध में मारा न गया हो।

3.4 बोध प्रश्न

1. पानीपत के तृतीय युद्व के परिणामों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. पानीपत के तृतीय युद्व के महत्व पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3.5 सहायक ग्रन्थ

- ग्रोवर, बी0एल0 मेहता, अलका यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास नई दिल्ली, 2008
- शर्मा एल0पी0 आधुनिक भारत का इतिहास, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2016

इकाई 4
मैसूर : हैदरअली एवं टीपू सुल्तान

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 मैसूर हैदरअली एवं टीपू सुल्तान

4.2.1 प्रथम आंग्ल–मैसूर युद्ध (1767–69)

4.2.2 द्वितीय आंग्ल–मैसूर युद्ध (1780–84)

4.2.3 तृतीय आंग्ल–मैसूर युद्ध (1790–92)

4.2.4 चतुर्थ आंग्ल–मैसूर युद्ध (1799 ई.)

4.3 सारांश

4.4 बोध प्रश्न

4.5 सहायक ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेगें–

- हैदरअली एवं टीपू सुल्तान के विषय में।
- आग्ल–मैसूर युद्व के प्रभावों के विषय में।

4.1 प्रस्तावना

मराठों ने पानीपत के तीसरे युद्ध की हार को शीघ्र ही भुला दिया तथा पेशवा माधवराव के नेतृत्व में पुनः उठ खड़े हुए। 1764, 1766 तथा 1771 में उन्होंने मैसूर प्रदेश पर आक्रमण कर हैदर अली को हराया तथा उसे धन और कुछ क्षेत्र देने पर बाध्य किया। परन्तु 1772 में माधवराव पेशवा की मृत्यु के पश्चात् गड़बड़ी के काल में हैदरअली ने 1774 और 1776 के बीच न केवल खोए हुए प्रदेश पुनः जीत लिए अपितु कृश्णा तुंगभद्रा घाटी के प्रमुख प्रदेश, बेलारी, कुडुपा, गूटी तथा करनूल इत्यादि प्रदेश भी प्राप्त कर लिया।

18वीं शताब्दी में समस्त भारत में साहसी वीर सैनिकों के लिए उत्थान के पर्याप्त अवसर थे। इसी प्रकार का एक वीर योद्धा हैदरअली (जन्म, 1727) था। उसने अपना जीवन एक घुड़सवार के रूप में आरंभ किया और फिर मैसूर का वास्तविक शासक बन गया। शक्ति के इस

हस्तांतरण की क्रिया मैसूर के राजा वडियार चिक कृश्णराज के काल में आरंभ हुई। 1731–34 के बीच दो भाइयों, देवराज (मुख्य सेनापति) तथा नंजाराज (राजस्व तथा वित्त के अधीक्षक) ने राज्य की समस्त शक्ति अपने हाथ में केन्द्रित कर ली। दक्षिण में निजाम, मराठों, अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच हुए चतुण्कोणीय संघर्श ने मैसूर को भी अपने अखाड़े में ला खड़ा किया।

मराठों मे 1753, 1754, 1757 तथा 1759 में मैसूर प्रदेश पर आक्रमण किए। इन आक्रान्ताओं की अमिट धन–पिपासा ने मैसूर को संकट में डाल दिया। देवराज भी इन आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने में असफल रहा। ऐसे समय में हैदरअली सामने आया और 1761 तक वह मैसूर का वास्तविक शासक बन बैठा। उसने अनुभव किया कि एक संगठित सेना ही समय की मांग है। मराठों का प्रतिरोध करने के लिए उसे एक तीव्रगामी तथा शक्तिशाली घुड़सवार सेना चाहिए, तथा फ्रांसीसियों द्वारा प्रशिक्षित निजाम की सेना के लिए एक अच्छा तोपखाना चाहिए। वह जानता था कि शस्त्र निमार्ण कार्य में यूरोपीय लोग बहुत आगे हैं। इसलिए उसने फ्रांसीसियों की सहायता से डिंडीगुल में शस्त्रागार स्थापित किया तथा अपनी सेना को प्रशिक्षण दिलवाया और शीघ्र वह कूटनीति में भी जोड़–तोड़ करने में सिद्धहस्त हो गया।

4.2 मैसूर हैदरअली एवं टीपू सुल्तान

हैदरअली का प्रारम्भिक जीवन तथा उत्कर्ष हैदरअली मैसूर राज्य का एक पराक्रमी तथा प्रतिभाशाली शासक था। उसके नेतृत्व में 18वीं शताब्दी में मैसूर राज्य का अत्यधिक उत्थान हुआ। हैदरअली एक पराक्रमी तथा महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह मैसूर राज्य की सीमाओं का विस्तार करना चाहता था। 1763 ई. में उसने बेदनूर पर अधिकार कर लिया और इस नगर का नाम बदलकर हैदरनगर रखा। बेदनूर की लूट से हैदर को लगभग 12 करोड़ रूपये का माल, सोने–चांदी, हीरे–जवाहरात आदि मिले। महज 15 साल की उम्र में ही टीपू सुल्तान युद्ध कला में निपुण हो गए थे। उन्होंने अपने पिता हैदरअली के साथ कई सैन्य अभियानों में भी हिस्सा लिया। 1766 में उन्होंने ब्रिटिश के खिलाफ हुई मैसूर की पहली लड़ाई में अपने पिता के साथ संघर्श किया था और अपनी कौशल क्षमता और बहादुरी से अंग्रेजों को खदेड़ने में भी कामयाब हुए। कर्नाटक के युद्धों ने हैदरअली के उत्थान में बहुत सहायता की। हैदरअली एक जन्मजात सैनिक, योग्य घुड़सवार, कुशल सेनापति और अच्छा कूटनीतिज्ञ था। साधारण नायक की स्थिति से उठकर वह मैसूर का सेनापति और अन्त में वहाँ का सर्वेसर्वा बना। वह एक साहसी सैनिक था और युद्ध के अवसर पर अपने सैनिकों के साथ किसी भी खतरे को उठाने हेतु तत्पर रहता था। उसमें घुड़सवार–सेना का नेतृत्व करने की अद्वितीय क्षमता था। उसने यूरोपियन युद्ध–नीति की उपयोगिता को देखकर फ्रान्सीसियों से सहायता लेने का निश्चय किया था और तोपखाने का प्रयोग भी अच्छी प्रकार से सीखा था। वह शिक्षित न था परन्तु उसकी बुद्धि कुशाग्र और स्मरण–शक्ति तीक्ष्ण थी। वह एक ही समय में कई बातों की

ओर ध्यान दे सकता था। वह प्रातः काल अपने सभी गुप्तचरों से एक साथ उनकी खबरें सुनता था और आवश्यकतानुसार सभी को आदेश देता था। धार्मिक दृश्टि से वह अत्यन्त उदार था। हिन्दुओं को उसके राज्य में पूर्ण सुरक्षा थी और वह हिन्दु विद्वानों तथा मन्दिरों को दान देता था।

वह एक अच्छा कूटनीतिज्ञ था और अनेक अवसरों पर उसने अपने शत्रुओं में कूट डालने में सफलता प्राप्त की थी। एक शासन–प्रबन्धक की दृश्टि से भी वह योग्य था। इसमें संदेह नहीं है कि निरन्तर युद्धों में लगे रहने और स्वयं शासन की ओर ध्यान देने का विशेश अवसर प्राप्त न होने के कारण उसे अपने अधिकारियों पर बहुत मात्रा में निर्भर करना पड़ता था परन्तु हैदरअली में व्यक्ति की योग्यता को परखने अपराधियों को दण्ड देने और सेवारत वफादार कर्मचारियों को इनाम देने की क्षमता थी। अपनी इसी योग्यता के कारण वह दूसरों से कार्य ले सकता था और सम्पूर्ण शासन पर अपनी दृश्टि भी रख पाता था। जिन परिस्थितियों में हैदरअली ने मैसूर राज्य का निर्माण किया वे पर्याप्त कठिन थीं। मराठा सरदार दक्षिण में एक नवीन और शक्तिशाली मुस्लिम–राज्य को सहन नहीं कर सकते थे, हैदराबाद का निजाम अपनी सीमाओं के निकट एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण नहीं होने देना चाहता था। और अंग्रेज इस वजह से उसके शत्रु बन गये थे।

टीपू सुल्तान ने अपने पिता के मैसूर साम्राज्य को ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथों में पड़ने से बचाने के लिए वीरता के साथ प्रदर्शन किया और सूझबूझ से रणनीति बनाई। वे हमेशा अपने देश की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध रहते थे। जब तृतीय आंग्ल–मैसूर युद्ध में अंग्रेजों ने टीपू के अधीन मालाबार तट के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तो सुल्तान के लिए जल सेना का महत्व और भी बढ़ गया। 1796 में टीपू ने नौसेना बोर्ड का गठन किया तथा 22 युद्धपोत तथा 20 बड़े फ्रिगेट बनाने की योजना बनाई। उसने मंगलोर, वाजिदाबाद तथा मोलीदाबाद में पोत बनाने का घाट बनाए। परन्तु यह योजना सिरे नहीं चढ़ी। उसके साधन अंग्रजों के साधनों से बहुत कम थे। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उसने कहा था कि मैं अंग्रजों के स्थल साधनों को तो समाप्त कर सकता हूँ परन्तु मैं समुद्र को तो नहीं सुखा सकता।

टीपू के विशय में तत्कालीन और आधुनिक इतिहासकारों ने विरोधी मत व्यक्त किये हैं। उसके विपक्ष के इतिहासकारों ने लिखा है कि वह कठोर, अत्याचारी और धर्मान्य शासक था। उसे अपनी योग्यता का बहुत घमण्ड था और वह विज्ञान, चिकित्सा–शास्त्र, इन्जीनियरिंग, सैनिक व्यवस्था, व्यापार आदि सभी के विशय में अपने मत प्रकट किया करता था जबकि उसे इनका पर्याप्त ज्ञान न था। टीपू धर्मान्ध था। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार कठोर था। उसने कुर्ग के हिन्दुओं को धर्म–परिवर्तन के लिए बाध्य किया था। इसी कारण अपने पड़ोसी राज्यों से सहायता प्राप्त करने के स्थान पर उसने दूरस्थ फ्रान्स और अन्य मुस्लिम–राज्यों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अपनी इन्हीं त्रुटियों के कारण टीपू ने अपना

साम्राज्य खो दिया। वह एक साहसी सैनिक और सेनापति था। तृतीय मैसूर–युद्ध में बुरी तरह से दुर्बल हो जाने पर भी उसने साहस नहीं छोड़ा था और अपनी पराजय को स्थायी मानने की बजाय तुरन्त ही अपनी शक्ति को पुनः एकत्रित करना आरम्भ कर दिया था। हैदरअली और टीपू दोनों ने नौसेना के महत्व को समझा, परन्तु अपने प्रमुख प्रतिद्वन्दी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्तर को कभी प्राप्त नहीं कर सके। जो भी जलपोत हैदरअली ने बनाए थे वे सभी एडवर्ड ह्यूज ने 1780 में मंगलोर पर आक्रमण के समय नश्ट कर दिए थे। प्रशासक तथा शासक के रूप में टीपू बहुत सफल रहा और विरोधियों ने भी उसकी सराहना की है। लैफ्टिनेन्ट मूर ने उसके विशय में कहा है– "जब एक व्यक्ति एक अनजाने देश से गुजरता हुआ यह देखे कि वहां फसलें उत्तम हैं, देश में जनसंख्या तथा उद्योग बहुत हैं, नए–नए नगर बस रहे हैं, वाणिज्य विकसित हो रहा है, और प्रत्येक वस्तु हर्श तथा सफलता की घोतक है, तो वह प्राकृतिक रूप से यही कहेगा, कि जनता एक कुशल प्रशासन के अधीन है। जिसमें उसे विकसित होने का अवसर मिल रहा है। ऐसा है टीपू के प्रदेश का चित्र।"सर जॉन शोर ने भी इसी प्रकार लिखा था, "टीपू के किसान सुरक्षित हैं और उन्हें श्रम के लिए प्रोत्साहन तथा उसका फल भी मिलता है। टीपू को अपने सैनिकों की राजभक्ति तथा विश्वास भी प्राप्त है।" ऐसे समय में जब सैनिक कमाण्डरों द्वारा दल बदलना साधारण बात थी, टीपू के सैनिकों ने उस अनुशासन तथा राजभक्ति का परिचय दिया जिसकों यूरोपीय प्रेक्षकों ने भी सराहा है।

विल्क्स का यहा कहना है कि हैदर राज्य बनाने के लिए जन्मा और टीपू उसे खोने के लिए। यह ऐतिहासिक सत्य तो है परन्तु इससे टीपू की कार्यकुशलता तथा उसकी कठिनाइयों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता जिनसे उसका साक्षात्कार हुआ। टीपू की वीरता तथा नवीन प्रयोगों की भावना प्रायः उसके अवगुण माने जाते हैं। हैदरअली ने तो प्राचीन वडियार वंश के झूठे ढोंग को जीवित रखा, परन्तु टीपू ने 1787 में बादशाह की उपाधि धारण कर ली। अपने नाम के सिक्के चलाए, वर्शों तथा महीनों के हिन्दु नामों के स्थान पर अरबी नामों का प्रयोग किया तथा नए पंचांग का प्रारम्भ किया। टीपू का नवीन परिवर्तन लाना केवल परिवर्तन नहीं था अपितु वे एक जाग्रत शासक द्वारा प्रारम्भ किए गये सुधार थे। साम्राज्यवादी लेखकरों का टीपू को एक सीधा–सादा दैत्य तथा धर्मान्ध शासक बतलाना, निश्चय ही सत्य नहीं। टीपू की धर्मपरायणता को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है।

यह सत्य है कि उसने हिन्दू कुर्गों तथा नायरों का दमन किया परन्तु जिन मुसलमान मोपलाओं ने उसकी आज्ञा का उल्लंघन किया उन्हें भी उसने क्षमा नहीं किया। कुछ वर्श पूर्व मिले श्रृंगेरी पत्रों से पता चलता है कि जब 1791 में हुए मराठा आक्रमणों से श्रृंगेरी मन्दिर का भाग टूट गया तो श्रृंगेरी के मुठय पुरोहित की प्रार्थना पर टीपू ने मन्दिर की मरम्मत के लिए तथा शारदा देवी की मूर्ति की स्थापना के लिए धन दिया। सुल्तान ने श्रीरंगापट्टम के

दुर्ग में स्थित श्री रंगनाथ नरसिंह अथवा गंगाधारेश्वर के मन्दिरों की पूजा में कभी हस्तक्षेप नहीं किया।

4.2.1 प्रथम आंग्ल – मैसूर युद्ध (1767–69)

बंगाल में सुलभ विजय से उन्मत हुए अंग्रेजों ने 1776 में हैदराबाद के निजाम निजामअली से सन्धि कर ली जिससे कम्पनी ने उत्तरी सरकारों के बदले निजाम को हैदरअली के विरुद्ध सहायता देने का वचन दिया 1761 और 1763 के बीच उसने होजकोट, दोड़बेल्लापुर, सेरा, बेदनूर इत्यादि प्रमुख स्थानों तथा दक्षिण के पोलीगारों को जीत लिया। मैसूर के सरदार विजयनगर राज्य के अधीन थे। 1565 में तालीकोटा के युद्ध के पश्चात् विजयनगर वंश का ह्रास हो गया। 1612 में विजयनगर के राजा वैंकट द्वितीय ने एक राजा वडियार (राजा शब्द उसके नाम का भाग था उपाधि नहीं) को मैसूर के राजा की उपाधि दे दी। 17वीं शताब्दी में वडियार वंश ने अपने राज्य का पर्याप्त रूप से विस्तार कर लिया। 1732 में एक अल्प वयस्क राजकुमार इम्मदी कृश्णराज गद्दी पर बैठे और दक्कन की राजनीति में एक नया मोड़ आया और वडियार वंश की सत्ता का और भी ह्रास हो गया।

4.2.2– द्वितीय आंग्ल – मैसूर युद्ध (1780–84)

1769, की सन्धि, सन्धि न रहकर केवल युद्ध विराम ही रह गया था। हैदरअली ने अंग्रेजों पर दोश लगाया कि वे अपने वचन को नहीं निभा रहे थे क्योंकि जब 1771 में मराठों ने हैदरअली पर आक्रमण किया तो अंग्रेजों ने, 1769 की सन्धि के अनुकूल सहायता नहीं की थी। दूसरे हैदरअली ने देखा कि उसकी बन्दूकों, तोपों, शोरे तथा गोले बारूद की आवश्यकताओं के लिए अंग्रेजों के स्थान पर फ्रांसीसी अधिक सहायक थे। हैदरअली ने निजाम तथा मराठों से मिलकर सबके शत्रु ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बना लिया। जुलाई 1780 में हैदरअली ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया तथा कर्नल बेली के अधीन अंग्रेजी सेना को हराकर अरकाट जीत लिया। इसी बीच अंग्रेजों ने निजान तथा मराठों को हैदरअली से अलग कर लिया।

हैदरअली का पहले ही अरकाट तथा मराठों से प्रदेश के मामलों पर झगड़ा था। शीघ्र ही हैदरअली ने देखा कि उसके विरुद्ध, निजाम, मराठों तथा कर्नाटक के नवाब का सम्मिलित मोर्चा बन गया है। हैदरअली विचलित नहीं हुआ और उसने कूट–नीति से काम लिया। उसने मराठों को धन देकर और निजाम को प्रदेश का प्रलोभन देकर अपने ओर मिला और फिर कर्नाटक पर आक्रमण किया। डेढ़ वर्श के अनिर्णायक युद्ध के पश्चात् हैदरअली ने अंग्रेजों के विरुद्ध बाजी उलट दी तथा मद्रास को घेर लिया। भयभीत हुए अंग्रेजों ने उससे एक तिरस्कारपूर्ण सन्धि कर ली (4 अप्रैल, 1769), जिसमें दोनों पक्षों ने विजित प्रदेश लौटा दिए तथा दोनों दलों ने एक–दूसरे को सहायता करने का वचन दिया अर्थात् अंग्रेजों को हैदरअली को सहायता देने का वचन देना पड़ा। हैदरअली ने दृढ़तापूर्वक इस स्थिति का सामना किया

परन्तु पोर्टो नोवो के स्थान पर परास्त हुआ। परन्तु अगले वर्श ही हैदरअली ने कर्नल ब्रेथवेट के अधीन अंग्रेजों को बुरी तरह हराया। ब्रेथवेट को युद्धबन्दी बना लिया गया। परन्तु 7 दिसम्बर, 1782 को हैदरअली की मृत्यु हो गई तथा कार्य भार उसके पुत्र टीपू सुल्तान के सिर पर आ पड़ा। टीपू ने एक वर्श तक युद्ध को जारी रखा। परन्तु दोनों पक्ष ही निश्चित विजय नहीं प्राप्त कर सके। अन्त में दोनों पक्षों ने सन्धि करना ही उचित समझा और मार्च, 1784 में मंगलोर की सन्धि द्वारा पक्षों ने विजित प्रान्त लौटा दिए। युद्ध का यह दूसरा दौर अनिश्चित रहा।

4.2.3–तृतीय आंग्ल – मैसूर युद्ध (1790–92)

कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध युद्ध की घोशणा कर दी। टीपू और अंग्रेजों का यह युद्ध प्रायः दो वर्श चला। पहला सैनिक अभियान मद्रास के गवर्नर–जनरल मीडोज के नेतृत्व में मैसूर पर अधिकार प्राप्त करने के लिए भेजा गया, जिसमें अंग्रेजी सेना को टीपू ने मार भगाया तथा कर्नाटक के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। कार्नवालिस निराश हो गया। निराशा से घिरने के बावजूद भी कार्नवालिस ने साहस नहीं छोड़ा। मीडोज की हार के बाद दिसम्बर 1790 में स्वयं कार्नवालिस ने सेनापति का पदभार संभाला। कार्नवालिस ने वैलोर और अम्बर की ओर से बंगलौर की ओर बढ़ना शुरु किया और मार्च 1791 ई. में बंगलौर पर अधिकार कर लिया। कार्नवालिस ने श्रीरंगपट्टनम के मार्ग के सभी पहाड़ी किलों पर एक–एक करके अधिकार कर लिया और 1792 ई. में वह श्रीरंगपट्टनम के किले की दीवार तक पहुँच गया। हताश होकर टीपू को सन्धि की बातचीत शुरु करनी पड़ी और मार्च 1792 ई. में श्रीरंगपट्टनम की सन्धि से युद्ध का अन्त हो गया।

4.2.4–चतुर्थ आंग्ल – मैसूर युद्ध (1799 ई.)

तृतीय मैसूर युद्ध में टीपू का जो अपमान और पराजय हुई थी वह उसे भूलने वाला न था और न वह उस समय तक अपनी पराजय स्वीकार करने को तैयार था। 1798 में लार्ड वेल्जली आया जो एक साम्राज्यवादी गवर्नर–जनरल था। दूसरे, उस समय नेपोलियन का भय समस्त यूरोप पर छाया हुआ था। ऐसा होना शन्ति बनाए रखने के लिए उपयुक्त नहीं था। उसने दृढ़ निश्चय किया हुआ था कि या तो टीपू को पूर्णतया समाप्त कर दो अथवा उसे पूर्णतया अपने अधीन कर लो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने सहायक सन्धि का मार्ग अपनाया। उसने टीपू पर यह दोश लगाया कि वह निजाम तथै मराठों के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध शड्यंत्र रच रहा है। 4 मई, 1799 को श्रीरंगापट्टम का दुर्ग जीत लिया गया तथा मैसूर की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। टीपू ने लड़ते–लड़ते वीर गति पाई। उसके कुल सदस्यों को वैल्लोर में कैद कर दिया गया। अंग्रेजों ने कन्नड़, कोइम्बटूर, वेनाड़, धारपुरम तथा मैसूर का समस्त समुद्री तट अपने प्रदेश में विलय कर लिया। कुछ प्रदेश निजाम को भी दिए गए। वडियार वंश का एक बालक मैसूर का राजा बना दिया गया तथा सहायक सन्धि देश पर लाद दी गई।

4.3 सारांश

निश्चय ही दक्षिणी भारत के इतिहास में टीपू का एक बहुत आकर्शक व्यक्तित्व था। उस वीर और साहसी व्यक्ति ने आत्माभिमान कभी नहीं छोड़ा और वैल्जली की सहायक सन्धि का निमंत्रण अस्वीकार कर दिया। व्यक्तिगत दृश्टि से टीपू में कोई दोश न था। निःसंदेह वह कट्टर मुसलमान था, पाँचों वक्त की नमाज पढ़ता था और ईश्वर में पूर्ण विश्वास करता था परन्तु वह धर्मान्ध था, यह आवश्यक रूप से सिद्ध नहीं होता। साहसी और कभी भी पराजय स्वीकार न करने वाला होते हुए भी टीपू ने सेनापति की दृश्टि से एक भयंकर भूल की थी। उसने अपनी घुड़सवार सेना की अपेक्षा अपनी पैदल सेना और किलेबन्दी पर अधिक बल दिया था। इसी कारण उसकी युद्ध–नीति आक्रामक होने के स्थान पर सुरक्षात्मक बन गयी थी और यही उसकी पराजय और पतन का एक मुख्य कारण था।

इस प्रकार टीपू में जहाँ कुछ दोश थे वहीं कुछ गुण भी थे। निःस्सन्देह वह अपने पिता की भाँति सफल और योग्य सिद्ध न हो सका था परन्तु तब भी वह योग्य और साहसी शासक था, उसने पाश्चात्य साम्राज्य की गाड़ी में बैठ कर निर्जीव जीवन व्यतीत करने के स्थान पर मृत्यु को आलिंगन करना श्रेयस्कर समझा दुर्भाग्य यह था कि उसका एक ऐसे विरोधी से साक्षात्कार था जिसमें पूर्ण भारत को शैंद लेने की शक्ति थी। जीवित रहने वाले सैकड़ों महाराजाओं तथा निजामों के स्थान पर उसके जीवन से आधुनिक भारतीयों को अधिक प्रेरणा मिलती है।

4.4 बोध प्रश्न

1. हैदरअली एवं टीपू सुल्तान की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. आग्ल–मैसूर युद्वो के महत्व पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 सहायक ग्रन्थ

- ग्रोवर, बी0एल0 मेहता, अलका यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास नई दिल्ली, 2008
- शर्मा एल0पी0 आधुनिक भारत का इतिहास, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2016

इकाई 5 –
बंगाल का घटनाक्रम, ईस्ट इंडिया कम्पनी एवं बक्सर का युद्ध

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 बंगाल का घटनाक्रम

5.2.1 ईस्ट इंडिया कम्पनी

5.2.2 बक्सर का युद्व

4.3 सारांश

4.4 बोध प्रश्न

4.5 सहायक ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेगे–

- बंगाल घटनाक्रम एवं ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विषय में।
- बक्सर युद्व के महत्व के विषय में।

5.1 प्रस्तावना

मुगल–साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले प्रान्तों में बंगाल सर्वाधिक सम्पन्न प्रान्त था। अंग्रेजों ने अपनी प्रथम कोठी (गोदाम) 1651 में हुगली में तत्कालीन बंगाल के सूबेदार शाह जहाँन के द्वितीय पुत्र शाहशुजा की अनुमति से बनवाई थी। शाहशुजा ने 1651 ई0 में ही राज–परिवार की एक स्त्री का डॉक्टर बौटन द्वारा इलाज करने पर अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा में मुक्त व्यापार करने की अनुमति मात्र 3,000 रुव वार्शिक शुल्क पर दे दी थी। शीघ्र ही अंग्रजों ने कासिम बाजार, पटना और अन्य स्थानों पर अपनी कोठियाँ बना लीं। शीघ्र ही अंग्रेजों ने कासिम बाजार, पटना और अन्य स्थानों पर अपनी कोठियाँ बना लीं।

18 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यहाँ के सूबेदारों ने अपनी स्वतं6ता की घोशणा करके नवाब की उपाधि धारण कर ली थी। 1740 इ० में अलीवर्दीखां ने नवाब शुजाउद्दीन के पुत्र सरफराज खाँ को परास्त करके बंगाल की सूबेदारी प्राप्त कर ली थी और वह अब बंगाल, बिहार और उड़ीसी के सम्मिलित प्रदेश का नवाब बन गया। साथ ही उसने तत्कालीन मुगल सम्राट मुहम्मदशाह से भी एक स्वीकृत–पत्र प्राप्त कर लिया था। अलीवर्दी खाँ ने लगभग 15

वर्शों तक मराठों से संघर्श किया था। वह साहसी और कूटनीतिज्ञ था। अपने समय में उसने यूरोपियन जातियों को न तो अपने सूबे में संघर्श करने दिया और न ही सूबे की राजनीति में उन्हें हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। अलीवर्दी खां यूरोपियनों को मधुमक्खियों के समान मानता था। उसका कहना था कि " यदि यूरोपियन को न छेड़ा जाए तो वह शहद देंगी और यदि छेड़ा जाए तो वे काट–काट कर मार डालेगी। परन्तु 1756 ई० में उसकी मृत्यु और उसके धेवते सिराजुद्दौला के गद्दी पर बैठते ही परिस्थितियां बदलने लगीं और एक वर्श में ही बंगाल का सूबा युद्ध और संघर्श का स्थल बन गया जिसका अन्तिम परिणाम बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अंग्रेज कम्पनी के प्रभाव की स्थापना था।

5.2 बंगाल का घटनाक्रम

अलीवर्दी खाँ की मृत्यु के पश्चात् उसका दौहित्र सिराजुद्दौला उसका उत्तराधिकारी बना। नए नवाब को अपने प्रतिद्वन्दी पूरनिया के नवाब शौकतजंग और अपनी मौसी घसीटी बेगम के अतिरिक्त अंग्रेजों से भी निबटना था। दूसरी ओर अंग्रेजों को आंग्ल–फ्रांसीसी युद्ध की आशंका थी अतएव उन्होंने कलकत्ता में फोर्ट विलियम की किलाबन्दी कर ली तथा उसके परकोटे पर तोपे चढ़ा दीं। उधर अंग्रेजों ने घसीटी बेगम को प्रत्यक्ष रुप से समर्थन दिया तथा बंगाल के भगोड़ों को भी शरण दी। जब सिराज ने अंग्रजों को इन जघन्य कार्यों से रोका तो उन्होंने टालमटोल की। सिराज ने देखा कि उसकी आज्ञा का उसी के राज्य में उल्लंघन हो रहा है तो उसने अंग्रेजों के विरुद्ध अभियान किया। फिलिप बुडरफ का यह कथन कि नवाब का फोर्ट विलियम पर आक्रमण का मुख्य उद्देश्य लूटमार करना था, पूर्णतया असत्य है।

प्लासी के युद्ध के बाद सत्तारुढ़ हुआ मीर जाफर अपनी रक्षा तथा पद हेतु ईस्ट इंडिया कंपनी पर निर्भर था। जब तक वो कम्पनी का लोभ पूरा करता रहा तब तक पद पर भी बना रहा। उसने खुले हाथों से धन लुटाया, किंतु प्रशासन सम्भाल नहीं सका, सेना के खर्च, जमींदारों की बगावतों से स्थिति बिगड़ रही थी, लगान वसूली में गिरावट आ गई थी, कम्पनी के कर्मचारी दस्तक का जम कर दुरुपयोग करने लगे थे। वो इसे कुछ रुपयों के लिए बेच देते थे। इससे चुंगी बिक्री कर की आमद जाती रही थी। बंगाल का खजाना खाली होता जा रहा था। मीर कासिम ने रिक्त राजकोश, बागी सेना, विद्रोही जमींदार जैसी विकट समस्याओं का हल निकाल लिया। बकाया लागत वसूली ली, कम्पनी की माँगे पूरी कर दी, हर क्षेत्र में उसने कुशलता का परिचय दिया। अपनी राजधानी मुंगेर ले गया, ताकि कम्पनी के कुप्रभाव से बच सके। सेना तथा प्रशासन का आधुनिकीकरण आरम्भ कर दिया।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापनी 31 दिसम्बर 1600 ईस्वी में हुई थी। इसे यदाकदा जॉन कंपनी के नाम से भी जानी जाता था। इसे ब्रिटेन की महारानी ने भारत के साथ व्यापार करने कि लिए 21 सालों तक की छूट दे दी। बाद में कम्पनी ने भारत के

लगभग सभी क्षेत्रों पर अपना सैनिक तथा प्रशासनिक अधिपत्य जमा लिया। प्लासी और बक्सर (1764 ईव) के युद्धों के बाद अंग्रेजों ने बंगाल की समृद्धि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। फलतः भारतीय अर्थव्यवस्था से औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गई। 17 वीं–18 वीं शताब्दी में बंगाल मुगल साम्राज्य का सबसे उपजाऊ और सबसे अमीर प्रांत था और इसमें वर्तमान बांग्लादेश, बिहार और ओडिशा राज्य शामिल थे। इस प्रांत की आधिकारिक शक्तियाँ बंगाल के नवाब के हाथों में थी। बंगाल अपने प्रसिद्ध वस्त्रों, रेशम और नमक के लिए आर्थिक महत्व रखता था। बंगाल से यूरोप को निर्यात होने वाली वस्तुओं में नमक, चावल, नील, काली मिर्च, चीनी, रेशम, सूती वस्त्र, हस्तशिल्प आदि शामिल थे।

मीरकासिम मीरजाफर का दामाद था। वह 1756 ई० और उसके बाद के समय में हुए बंगाल के नवाबों में सर्वाधिक योग्य था। उसने अंग्रेजों को बर्दवान, मेदिनीपुर और चटगाँव की जागीर दी। दक्षिण के युद्ध में सहायतार्थ अंग्रेजों को पाँच लाख रुपये दिये तथा उस धन को भी देने का वायदा किया जो सन्धि की शर्तों के अनुसार मीरजाफर अंग्रेजों को नहीं दे सका था। मीरकासिम ने कम्पनी के प्रमुख अंग्रेज अधिकारियों को उपहार स्वरुप लगभग 17 लाख रुपये दिये, जिनमें वान्सीटार्ट को 5 लाख रुपये, हॉलवेल को 2.7 लाख रुपये, कर्नल केलॉड को 2 लाख रुपये तथा अन्य व्यक्तियों को 7 लाख रुपये दिये। मीरकासिम की योग्यता ही उसके पतन का कारण बन गयी। मीरकासिम ने अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बनने से इन्कार कर दिया जिसे अंग्रेज सहन न कर सके।

अलीवर्दी खाँ के अनुवर्ती नवाबों में मीर कासिम सब से योग्य था। वह पहले ही पूर्निया तथा रंगपुर के फौजदार के रुप में अपनी योग्यता दर्शा चुका था। वह राजधानी मुर्शिदाबाद से मुंगेर ले गया। सम्भवतः वह मुर्शिदाबाद के शड्यन्त्रमय वातावरण तथा कलकत्ता से दूर रहना चाहता था ताकि अंग्रेजों का हस्तक्षेप अधिक न हो।

मीर कासिम ने सेना का गठन यूरोपीय पद्धति पर करने का निश्चय किया। मुंगेर में तोपों तथा तोड़ेदार बन्दूकों बनाने की व्यवस्था की गई। नवाब को शाहजादा अलीगौहर, जो अभी तक बिहार में थ।, से भी बचना था, दूसरे, की ओर अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था. वह बंगाल तथा बिहार के उदण्ड जमींदारो का भी दमन करना चाहता था। जिन्होंने कई बार नवाब की आज्ञाओं का उल्लंघन किया था। ये लोग किसी समय भी राजा के लिए खतरा बन सकते थे। बिहार का उप–सूबेदार राम नारायण, नवाब की सत्ता के विरुद्ध अंग्रेजों से समर्थन की आशा करता था। राम नारायण ने तो मीर जाफर की सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया। केवल क्लाइव के हस्तक्षेप के कारण ही वह मीर जाफर से बचा रहा। अब अंग्रेजों के समर्थन से वह लगभग स्वतन्त्र सा बन गया। वह मीर कासिम के प्रति भी निश्ठावान नहीं था। नवाब की बार–बार आज्ञा पर भी उसने बिहार की आय का ब्यौरा नहीं दिया। मीर कासिम अपनी सत्ता के इस स्पश्ट उल्लंघन को सहन नहीं कर सका। उसने गवर्नर वेनसिटार्ट की सहमति से पहले राम नारायण को निलम्बित किया, फिर सेवा से हटा

दिया तथा मार डाला।

5.2.1 ईस्ट इंडिया कम्पनी

भारत में बंगाल अंग्रेजों के नियंत्रण में आने वाला पहला राज्य था। ईस्ट इंडिया कंपनी ने इस प्रांत के व्यापार से बहुत लाभ कमाया। बंगाल के विशाल संसाधन ब्रिटिश विस्तार के वित्तपोशण के रुप में काम आए। एशिया से होने वाले कुल ब्रिटिश आयात में लगभग 60 प्रतिशत बंगाल की वस्तुएँ शामिल थीं। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने वर्श 1690 के दशक में कलकत्ता की नींव रखी और ब्रिटिश वाणिज्यिक उपनिवेश की स्थापना की। ब्रिटिश कंपनी मुगल सम्राट को बंगाल में स्वतंत्र रुप से व्यापार करने की अनुमति देने के बदले प्रतिवर्श, 3,000 रुपये (350 पाउंड) का भुगतान करती थी। इसके विपरीत बंगाल से होने वाला कंपनी का कुल निर्यात प्रतिवर्श लगभग 50,000 पाउंड से अधिक का था।

कम्पनी ने समझा था कि मीर कासिम भी कठपुतली है। वह कम्पनी की आर्थिक मांगों को अधिक सफलता से पूरा कर सका था। वास्तव में कम्पनी समझदार तथा भीरु शासक चाहती थी। वॉरेन हेस्टिंग्ज ने भी उसके प्रशासन की प्रशंसा की यद्यपि वह उसके भीरुपन की स्पश्टतः खिल्ली भी उड़ाता था। परन्तु मीरकासिम कम्पनी की साम्राज्यवादी नीति में ठीक नहीं बैठता था। हैरी वेरेल्स्ट ने जो 1767–69 तक फोर्ट विलयम कलकत्ता का गवर्नर था। मीर कासिम तथा कम्पनी के बीच झगड़े के कारणों को दो भागों में बांटा है तात्कालिक तथा वास्तविक उसके अनुसार तात्कालिक कारण तो आन्तरिक व्यापार था परन्तु वास्तविक कारण इस नवाब की राजनैतिक महत्वाकांक्षाएं थीं। वह कहता है, "यह असम्भव था कि मीर कासिम अपनी सरकार की नींव हमारे समर्थन पर ही निर्भर रहने दे। आत्मरक्षा ने उसे स्वाधीनता की ओर खींचा।"

वेरेल्स्ट के विश्लेशण को ध्यान में रखते हुए प्रोफेसर एच०एच०डॉडवैल तथा डॉक्टर नन्द लाल चटर्जी ने नवाब की राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं तथा आन्तरिक व्यापार के प्रश्नों के बीच एक स्पश्ट रेखा खींची है। डॉडवैल लिखते हैं कि "स्थिति की प्रमुख बात यह थी कि अंग्रेजों तथा नवाब के हित एक–दूसरे के विरोधी थे। स्थिति में स्थिरता उस समय तक नहीं आ सकती थी जब तक नवाब अपने आपको स्वतन्त्र मानता रहता तथा अंग्रेज वे अधिकार मांगते रहते जो इस स्वतंत्र परिस्थिति के अनुरुप नहीं थे।"

डॉक्टर चैटर्जी लिखते हैं, "निजी आन्तरिक व्यापार पर लगे करों का झगड़ा नहीं था। जब उसने युद्ध की इच्छा की तो उसके संकल्प भिन्न थे।" आगे लिखते है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवाब की इच्छा अंग्रेजों से पूर्ण रुपेण स्वतंत्र होने की थी तथा वह शनैः–शनैः 1757 में स्थापित अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करना चाहता था। उसका उद्देश्य यूरोपीय व्यापारियों की विशेश शक्ति को समाप्त कर, निश्कण्टक तथा निरंकुश सूबेदारी स्थापित करना था।" परन्तु यदि हम समकालीन परिस्थितियों को ध्यानपूर्वक देखें तो प्रतीत

होता है कि मीर कासिम राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए कोई प्रयत्न नहीं कर रहा था। कहीं नहीं दिखता कि उसने अंग्रेजों को दिए तीनों जिलों अथवा शोरे तथा चूने के व्यापार में अंग्रेजों को दी हुई रियासतों को वापस लेने का प्रयत्न किया है। वह तो केवल अंग्रेजों की शक्ति को अधिक बढ़ने से अथवा अपनी शक्ति को अधिक कम होने से रोकना चाहता था। वह केवल सन्धियों का अक्षरक्षः पालन चाहता था। आन्तरिक व्यापार में प्रतिवर्श बढ़ती हुई भ्रश्टता से उसके वित्तीय साधन तथा उसके राजनैतिक अधिकार–क्षेत्र दोनों ही कम हो रहे थे। अंग्रेजों तथा उनके एजेन्टों और गुमाश्तों के हथकण्डे उसकी राजसत्ता के लिए खतरा बनते जा रहे थे। ये लोग जनता पर ही अत्याचार नहीं करते थे अपितु मीर कासिम के अधिकारियों को भी बन्दी बना लेते थे। मैकाले लिखता है, "कम्पनी का प्रत्येक सेवक अपने आपको स्वामी समझता था तथा स्वामी अपने आपको कम्पनी का ही रुप समझता था।"

कम्पनी के सेवक वृक्षों के नीचे न्यायालय लगाते तथा मनमाना दण्ड दे दिया करते थे। मीर कासिम केवल यह चाहता था कि झगड़े की स्थिति में कम्पनी के गुमाश्ते नवाब की अदालतों के अधीन कार्य करें। अंग्रेज जानते थे कि उनको व्यापार में अधिकाधिक लाभ तभी हो सकता है जब उनके गुमाश्ते जनता पर मनमानी कर सके। नवाब की अदालतों के अधीन कार्य करने पर ऐसा नहीं हो सकता था तथा अंग्रेजों का लाभ सीमित रह जाता। अतएव मीर कासिम का झगड़ा स्वतन्त्रता के प्रश्न पर नहीं था अपितु अंग्रेजों के अपने राजनैतिक तथा कानूनी अधिकारों के दुरुपयोग पर था।

मीर कासिम का झगड़ा आन्तरिक व्यापार पर लगे करों को लेकर आरम्भ हुआ। वेनसिटार्ट ने आन्तरिक व्यापार की परिभाशा "राज्य में एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल को लाने तथा ले जाने" को माना है। कम्पनी को 1717 में फर्रूखसीयर ने एक फरमान द्वारा आयात तथा निर्यात कर से छूट दे दी थी। उस पर कोई बहस नहीं थी। नवाब ने केवल उस दस्तक का प्रश्न उठाया जो कलकत्ता काउंसिल के प्रधान ने दी हुई थी तथा उसके अनुसार कर की छूट होती थी तथा जिसकी सहायता से कम्पनी के अधिकारी अपना निजी व्यापार करते थे तथा नवाब को कर से वंचित रखते थे।

यही नहीं, अब इन अधिकारियों ने यह दस्तक धन लेकर भारतीय व्यापारियों को भी देनी आरम्भ कर दी थी जिससे शेश मिलने वाला कर भी समाप्त हो गया था। दूसरी ओर कम्पनी के अधिकारी नवाब के कानूनों का पालन नहीं करते थे, उसके अफसरों का निरादर करते थे तथा जनता को लूटते थे। एक बार एक आर्मीनियन ने नवाब के निजी प्रयोग के लिए कुछ शोरा खरीदा। शोरे के व्यापार पर अंग्रेजों का एकाधिकार था। कम्पनी के पटना के एजेन्ट एलिस ने उस आर्मीनियन को बन्दी बना लिया। इसी प्रकार एक बार एलिस ने कम्पनी के सिपाहियों को मुंगेर के दुर्ग की तलाशी लेने के लिए भेज दिया क्योंकि उसे सन्देह था कि कम्पनी के दो भगोड़ों ने वहां शरण ले रखी थी।

कम्पनी तथा नवाब में युद्ध 1763 में ही आरम्भ हो गया। कई झड़पें हुई तथा मीर

कासिम ने हार खाई। बच कर वह अवध पहुँचा तथा अवध के नवाब तथा मुगल सम्राट से मिलकर अंग्रेजों को बंगाल से बाहर निकालने की योजना बनाई। इन तीनों की सम्मिलित सेना, जिसमें 40 तथा 50 हजार के बीच सैनिक थे, की टक्कर कम्पनी की सेना से हुई। कम्पनी की सेना में 7027 सैनिक थे तथा उसकी कमान मेजर मुनरों के हाथ में थी। युद्ध बक्सर के स्थान पर 22 अक्टूबर, 1764 को हुआ। दोनों दलों की क्षति अत्यधिक हुई परन्तु मैदान अंग्रेजों के हाथ रहा। युद्ध घमासान हुआ। अंग्रजों के 847 सैनिक घरयल अथवा मारे गए तथा दूसरी ओर 2000 के लगभग घायल तथा मारे गए। प्लासी का युद्ध, युद्ध–कौशल से नहीं जीता गया था। वहाँ विश्वासघात हुआ था, परन्तु यहां दोनों ओर से डट कर युद्ध किया गया। तैयारी पूरी थी। निश्चय ही अधिक कुशल सेना की जीत थी।

5.2.2 बक्सर का युद्ध

बक्सर का युद्ध प्लासी के युद्ध से अधिक महत्वपूर्ण था। इससे अंग्रेजी साम्राज्य की नींव हमेशा के लिए भारत में पड़ गयी। ब्रुम ने लिखा था – "इस प्रकार बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध समाप्त हुआ जिस पर भारत का भाग्य निर्भर था और जो जितनी बहादुरी से लड़ा गया, परिणामों की दृश्टि से भी उतना ही महत्वपूर्ण था।" प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का स्वामित्व दिया था परन्तु बक्सर के युद्ध ने अवध के नवाब और मुगल बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला तथा स्वयं मुगल बादशाह को भी अंग्रेजों की दया पर छोड़ दिया। मुगल बादशाह शक्तिशाली न था परन्तु वह नाम का मुगल बादशाह अवश्य था। इस युद्ध से अंग्रेजों का यश सम्पूर्ण भारत में फैल गया। अब बंगाल का नवाब उनके हाथों की कठपुतली, अवध का नवाब उन पर निर्भर करने वाला मित्र और मुगल बादशाह उनका पेंशनर बन गया। जब अंग्रेजों के लिए दिल्ली का मार्ग साफ था और वे मराठों से संघर्श के लिए तत्पर हुए जिस पर भारत का भाग्य निर्भर करता था। इस युद्ध के सम्बन्ध में मालेसन ने कहा था कि "चाहे आप इसे देशी तथा विदेशियों के बीच द्वन्द युद्ध समझें अथवा ऐसी सारगर्भित घटना जिसके परिणाम स्थायी तथा विशाल थे, बक्सर को सबसे निर्णायक युद्धों में गिना जायेगा।" राजनीतिक दृश्टि से ही नहीं बल्कि सैनिक दृश्टि से भी बक्सर का युद्ध महत्वपूर्ण था। बक्सर ने प्लासी के निर्णयों पर पक्की मोहर लगा दी। भारत में अब अंग्रेज को चुनौती देने वाला कोई दूसरा नहीं रह गया था। अब नया नवाब उसकी कठपुतली था। अवध का नवाब उनका आभारी तथा मुगल सम्राट उनका पेन्शनर था। इलाहाबाद तक का प्रदेश अंग्रेजों के चरणों में आ गया था दिल्ली का मार्ग खुला था। इसके पश्चात् बंगाल तथा अवध ने अंग्रेजों के अधिकार से बाहर आने का प्रयत्न नहीं किया तथा उनका फंदा और भी सुदृढ़ होता चला गया।

4.3 सारांश

प्लासी के युद्ध ने बंगाल में अंग्रेजों की शक्ति को सुदृढ़ किया तथा बक्सर के युद्ध ने उत्तरी भारत में तथा अब वे समस्त भारत पर दावा करने लगे थे। इसके पश्चात् मराठों

तथा मैसूर ने कुछ चुनौती देने का प्रयत्न किया। परन्तु भारत की दासता अब स्पश्ट थी, केवल समय का प्रश्न था। बक्सर का युद्ध भारतीय इतिहास में निर्णायक सिद्ध हुआ। जी०बी० मालसेन–चाहे आप इसे देशी तथा विदेशियों के बीच द्वन्द युद्ध समझें अथवा ऐसी सारगर्भित घटना जिसके परिणाम स्थायी तथा विशाल थे, बक्सर को सबसे निर्णायक युद्धों में गिना जायेंगा। विजय से न केवल बंगाल ही मिला, न केवल इसने अंग्रेजी सीमाएं इलाहाबाद तक पहुँचा दी, अपितु इससे अवध के शासक विजयी शक्ति से, कृतक्षातापूर्ण निर्भरता, विश्वास के बन्धनों से बन्ध गये जिसने आने वाले 94 वर्श तक उनको मित्रों के मित्र तथा शत्रुओं के शत्रु बनाए रखा। ऑल्फ्रेड लायल–बक्सर के युद्ध के दीर्घकालिक तथा गौण परिणाम बहुत महत्वपूर्ण थे। अंग्रेजों की विजय के कारण मुगल सम्राट अंग्रेजों से मिल गया, वजीर भयभीत हो गया तथा कम्पनी की सेनाएं गंगा पार, बनारस तथा इलाहाबाद तक पहुँच गई। इसके कारण बंगाल के उत्तर–पश्चिमी प्रदेशों से जिनसे उनका सम्बन्ध बना, वे सम्बन्ध पहली बार एक नवी, उन्नत तथा प्रभुत्वमय सम्बन्ध स्थापित कर सके। अब अंग्रेजों का उत्तरी भारत से सम्पर्क बन गया तथा उन्हें एक नया कार्यक्षेत्र मिला जो शीघ्रातिशीघ्र परिवर्तित होता चला गया।

4.4 बोध प्रश्न

1. ईस्ट इण्डिया कम्पनी एवं बक्सर युद्व के महत्व पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

1. बंगाल घटनाक्रम टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 सहायक ग्रन्थ

- ग्रोवर, बी0एल0 मेहता, अलका यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास
  नई दिल्ली, 2008
- शर्मा एल0पी0 आधुनिक भारत का इतिहास, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 2016

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGHY-104

भारतीय इतिहास
1556–1857 ई0 तक

खण्ड – 3

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार

इकाई – 1

प्रथम आग्ंल–मराठा युद्ध 1757–1782 ई0 तक, द्वितीय आग्ल–मैसूर युद्ध 1780–1784ई0 तक, पृष्ठभूमि, घटनाक्रम एवं परिणाम

इकाई – 2

1765–1798 ई0 की अवधि में मुगल एवं भारतीय राज्यों के प्रति ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति

इकाई – 3

रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773, पिट्स इण्डिया एक्ट 1784 एवं 1793 का चार्टर अधिनियम– पृष्ठभूमि, प्रावधान एवं महत्व

इकाई – 4

1813 ई0, 1833 ई0 एवं 1853 ई0 का चार्टर एक्ट तथा अवध का विलय–पृष्ठभूमि एवं परिणाम

इकाई – 5

1857 की क्रान्ति की दीर्घकालीन एवं तात्कालिक पृष्ठभूमि,

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश
प्रयागराज

परामर्श समिति **UGHY-104**

प्रो0 सीमा सिंह — कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 पी0 पी0 दूबे — कुलसचिव, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो0 संतोषा कुमार — आचार्य इतिहास एवं प्रभारी निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदो — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 संजय श्रीवास्तव — आचार्य, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, समाज विज्ञान विद्याशाखा विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

प्रो0 संतोषा कुमार (ब्लॉक–1) — आचार्य, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ. नम्रता प्रसाद (ब्लॉक–2) — एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास सी.एम.पी.पी.जी. कॉलेज, प्रयागराज

डॉ. (कुमारी) पंकज शर्मा (ब्लॉक–3 एवं 6) — सहायक आचार्य, इतिहास नानकदेव संस्कृत पी.जी.कॉलेज,मेरठ

डॉ. संतोष कुमार चतुर्वेदी (ब्लॉक–4) — आचार्य, इतिहास महामति प्राणनाथ पी.जी.कॉलेज,मऊ, चित्रकूट

डॉ0 तनवीर हुसैन (ब्लॉक–5) — सहायक आचार्य, इतिहास, जी.एफ.पी.जी. कॉलेज,शाहजहाँपुर

सम्पादक

प्रो0 हेरम्ब चतुर्वेदी (ब्लॉक–1,3,4,5,6) — आचार्य एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो. अरुणा सिन्हा (ब्लॉक–2) — आचार्य, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 सुनील कुमार — सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2021

ISBN : 978-93-94487-91-8

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

इकाई–प्रथम

प्रथम आंग्ल–मराठा युद्ध 1757–1782 ई0 तक, द्वितीय आग्ल–मैसूर युद्ध 1780–1784 ई0 तक, पृष्ठभूमि, घटनाक्रम एवं परिणाम

इकाई की रुपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मराठें और ईस्ट इंडिया कंपनी

1.3 प्रथम आंग्ल–मराठा युद्ध (1775–82)

1.3.1 सूरत की संधि

1.3.2 पुरंदर की संधि

1.3.3 मराठों के प्रति वारेन हेस्टिंग्स की नीति

1.3.4 सालबाई की संधि

1.3.5 युद्ध के परिणाम

1.4 द्वितीय आंग्ल–मैसूर युद्ध

1.4.1 वारेन हेस्टिंग्स और हैदर अली

1.4.2 मंगलौर की संधि

1.5. सारांश

1.6 शब्दावली

1.7 बोध प्रश्न

1.8 सहायक ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

आप इस ईकाई में 1775–82 के मध्य मराठें एवं ईस्ट इंड़िया कंपनी के संबंधों तथा मराठों के प्रति उनकी नीतियों का अध्ययन करेगें; साथ ही प्रथम आंग्ल–मराठा एवं द्वितीय आग्ल–मैसूर युद्धों के संधियों एवं उसके परिणामों का मूल्यांकन करेगें।

1.1 प्रस्तावना

मुगल साम्राज्य के अवशेषों पर भारत में जिन राजनीति शक्तियों का उदय हुआ, उनमें मराठे सबसे प्रमुख शक्ति के रुप में उभरे। मराठा शक्ति के संस्थापक शिवाजी के समय से मुगलों और मराठों के संघर्ष चलते आ रहे थे। औरंगजेब ने मराठों को नियंत्रण में

रखने का प्रयास किया, परन्तु उसके अक्षम उत्तराधिकारियों के समय में आंतरिक कलह के बावजूद मराठा शक्ति का विकास अनवरत रुप में होता रहा। 18वीं शताब्दी में तीन पेशवाओं–बालाजी विश्वनाथ, बाजीराव प्रथम और बालाजी बाजीराव या नाना साहब ने मराठा शक्ति के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया था। इन्हीं के प्रयासों के फलस्वरुप मराठे इतने शक्तिशाली हो गये कि वे मुगलों का पदच्युत कर दिल्ली पर कब्जा करने का स्वप्न देखने लगें, परन्तु इसी समय 14 जनवरी, 1761 ई. को पानीपत के तृतीय युद्ध में पराजित होने से उनकी शक्ति को गहरी ठेस लगी। इसका लाभ उठाकर अंग्रेजों ने मराठा शक्ति को हमेशा के लिये नष्ट कर दिया।

मराठों के अतिरिक्त मैसूर का नवोदित शक्तिशाली राज्य भी अंग्रजों की आँख की किरकिरी था। ब्रिटिश साम्राज्य के दक्षिणी विस्तार में यह सबसे बड़ा रोड़ा था। अतः बंगाल में अपनी शक्ति के स्थापना के पश्चात मैसूर पर विजय प्राप्त करना भी कंपनी के अधिकारियों का उद्देश्य बन गया।

1.2 मराठे और ईस्ट इंडिया कंपनी (1775–82)

मराठों के आपसी कलह ने अंग्रेजों को मराठा राजनीति में हस्तक्षेप करने का मौका प्रदान किया। 1761 ई0 में माधवराव पेशवा बना। वह एक कुशल सेनापति एवं योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसने मराठों की शक्ति को संगठित करने का प्रयास किया। 11 वर्षों की अवधि में ही उसने मराठों की खोई शक्ति को बहुत हद तक पुनर्गठित कर दिया। निजाम, मैसूर, रुहेले, राजपूत, जाट यहाँ तक की मुगल बादशाह शाहआलम भी उसके प्रभाव में आ गए। उसकी बढ़ती शक्ति से अंग्रेज सशंक्ति हो उठे और किसी सुयोग्य मौके की ताक में रहने लगे जिससे की मराठों की शक्ति नष्ट की जा सके।

सौभाग्य से अंग्रेजों को शीघ्र ही इसका मौका मिल गया। 1772 ई0 में माधवराव के मृत्यु के साथ ही मराठों में गृह–कलह प्रारंभ हो गया। गद्दी के अनेक दावेदार उठ खड़े हुए। माधवराव का छोटा भाई नारायणराव पेशवा बना, परन्तु 1773 ई0 में उसकी हत्या करवाकर उसका चाचा रघुनाथ या राघोबा पेशवा बन बैठा। नाना फड़नवीस का शक्तिशाली दल राधोबा का विरोधी था और सवाई माधवराव का पेशवा बनना चाहता था। उसे अपने इस कार्य में सफलता मिली। इस परिस्थिति से घबरा कर राघोबा भागकर अंग्रेज़ों की शरण में बंबई चला गया। अंग्रेज़ों को मराठा राजनीति में हस्तक्षेप करने का मनोवांक्षित मौका मिल गया।

1.3 प्रथम आंग्ल–मराठा युद्ध (1775–82)

आंग्ल–मराठा युद्ध की प्रथम दौर के कारण मराठों के आपसी झगड़े तथा अंग्रेजों की महत्वकांक्षाएँ थीं। जैसे क्लाइव ने दोहरी प्रणाली बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में स्थापित कर ली थी, उसी तरह की दोहरी प्रणाली बम्बई कंपनी महाराष्ट्र में भी स्थापित करना चाहता थी। 1772 में माधवराव की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र नारायणराव अपने चाचा राघुनाथराव,

जो पेशवा बनना चाहता था, के 'ाड्यन्त्रों का शिकार बन गया। जब नारायणराव के मरणोपरान्त पुत्र उत्पन्न हुआ तो रघुनाथ राव हताश हो गया। उसने अंग्रेजों से सूरत की संधि कर ली ताकि वह अंग्रेजों की सहायता से पेशवा बन जाए। प्रयत्न असामयिक सिद्ध हुआ। युद्ध 7 वर्ष तक चलता रहा तथा अन्त में दोनों शाक्तियों ने उसकी निष्फलता को अनुभव किया। अन्त में सालबाई की संधि (1782) से युद्ध समाप्त हो गया। विजित क्षेत्र लौटा दिए गए। यह शक्ति परीक्षण अनिर्णायक रहा। अगले 20 वर्ष तक शांति रही।

1.3.1 सूरत की संधि

पानीपत के तृतीय युद्ध के पश्चात पेशवा माधवराव ने मराठों की शक्ति को पुर्नसंगठित किया, परन्तु 1772 ई0 में उसकी मृत्यु के साथ ही मराठों के आंतरिक कलह ने उन्हे पुनः दुर्बल बना दिया तथा अंग्रेजों को उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का मौका प्रदान किया। इसकी परिणिति प्रथम आंग्ल–मराठा युद्ध में हुई। माधवराव की मृत्यु के पश्चात नारायण राव पेशवा बना, परन्तु उसकी हत्या कर उसका रघुनाथराव (राघोबा) स्वयं पेशवा बना गया। नाना फड़नवीस का दल रघुनाथ राव का विरोधी था। अतः इन लोगों ने नाना फड़नवीस के नेतृत्व में माधवराव के अल्पआयु पुत्र को पेशवा घोषित कर दिया। बाध्य होकर रघुनाथराव बंबई अंग्रेजों के शरण मे चला गया तथा पेशवा बनने के लिए अंग्रेजी सहायता की मांग की। बंबई की कम्पनी सरकार पूना दरबार और मराठों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का यह सुनहरा मौका खोना नहीं चाहती थी। अतः बिना गवर्नर जनरल और कलकत्ता कौंसिल की स्वीकृति लिए हुए उसने 7 मार्च, 1775 को राघोबा के साथ सूरत की संधि कर ली। इस संधि के अनुसार बंबई की सरकार ने राघोबा को पेशवा बनाने के लिए 2500 सैनिकों की सहायता देने का आश्वासन दिया। इस सेना का खर्च राघोबा को सहन करना था। अंग्रेजों को राधोबा से सालसेट, बेसीन और कुछ अन्य टापू तथा सूरत और भड़ौंच के राजस्व का कुछ भाग भी प्राप्त करना था। कंपनी ने यह शर्त भी रखी कि पेशवा बनने के पश्चात राधोबा कर्नाटक एवं बंगाल पर मराठों का आक्रमण बंद करवा देगा। राघोबा ने यह शर्त भी स्वीकार कर ली। उसने यह वचन भी दिया कि पूना दरबार से की जाने वाली किसी भी संधि में अंग्रेजों को भी सम्मिलित करेगा।

1.3.2 पुरंदर की संधि

कलकत्ता की कौंसिल ने सूरत की संधि का विरोध किया तथा इसे 'नासमझी, खतरनाक, अधिकारपूर्ण तथा अनुचित' बताया। मराठा–मंडल के नेताओं से बात करने के लिए कर्नल अप्टन को पूना भेजा गया, जिसने 1 मार्च, 1776 को पुरन्दर की नई संधि की। इसके अनुसार अंग्रेजों और मराठों में युद्ध बंद हो गया। रघुनाथराव की सेना भंग कर दी गई, उसे पेंशन देकर गुजरात भेज दिया गया तथा उसे राजनीति से अलग रहने को कहा गया। पूना दरबार से अंग्रेजों को क्षतिपूर्ति के रुप में 12 लाख रुपया तथा सालसेट का

इलाका मिला। यह संधि अस्थायी सिद्ध हुई।

1.3.3 मराठों के प्रति वारेन हेस्टिंग्स की नीति

बंबई की सरकार पुरन्दर की संधि को नापसंद करती थी। इसलिए उसने कंपनी के संचालकों की अनुमति से पुरंदर की संधि भंग कर सूरत की संधि को ही मान्यता दी। वे पूर्ववत राघोबा की सहायता करते रहे। इस बीच नाना फडनवीस का फ्रांसीसियों से संबंध बढ़ता जा रहा था। यूरोप में भी अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम के चलते अंग्रेज और फ्रांसीसी एक दूसरे के दुश्मन बन गये थे। ऐसी स्थिति में फ्रांसीसियों का नाना फड़नवीस से संबंध अंग्रेजों के लिए घातक सिद्ध हो सकता था। अतः बंबई की कौंसिल ने पूना की ओर एक सेना भेजी जिसे मराठों ने तलगाँव के युद्ध में (1778 ई0) पराजित कर दिया। बड़गाव में भी अंग्रेज सेना हार गई। बाध्य होकर अंग्रेजों को बड़गाव की संधि (1779 ई0) करनी पड़ी। यह संधि अंग्रेजों के लिए अत्यंत अपमानजनक थी। इसके अनुसार अंग्रेजों ने समस्त विजित प्रदेश (1773 ई0 के पश्चात) मराठों को लौटा दिए तथा राधोवा का पक्ष लेना बंद कर दिया। पुरंदर की संधि अब समाप्त कर दी गई। अंग्रेजों की सहायता के लिए बंगाल से आनेवाली सेना को रोक दिया गया तथा सिंधिया को भड़ोच के राजस्व का कुछ हिस्सा देना स्वीकार किया गया।

वारेन हेस्टिंग्स इस अपमान को आसानी से ग्रहण नहीं कर सका। उसने मराठों से युद्ध जारी रखने का फैसला किया। हेस्टिंग्स ने सेना की दो टुकड़ियों को क्रमशः जनरल गोडर्ड और पोफम के सेनापतित्व में भेजा। गोडर्ड मध्य भारत को रौंदता हुआ अनेक जगहों पर मराठों को पराजित करता हुआ 1780 ई0 में हैदराबाद पहुँचा और इस पर अधिकार कर लिया। पोफम ने भी ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। उसने सिपरी में सिंधिया को मात दी।

1.3.4 सालबाई की संधि

इन अनेक हारों से मराठे बौखला उठे। महादजी सिंधिया के प्रयासों के फलस्वरूप 17 मई, 1782 को मराठों और अंग्रेजों के बीच सालबाई की संधि हुई, जिसने प्रथम आग्ंल–मराठा युद्ध को समाप्त किया। संधि के अनुसार, दोनों पक्षों ने विजित क्षेत्रों पर से अपना–अपना अधिकार वापस ले लिया। सालसेट तथा एलीफैंटा को अंग्रेजों के पास ही छोड़ दिया गया। अंग्रेजों ने राघोबा का पक्ष लेना छोड़कर माधवराव को पेशवा मान लिया। पेशवा की तरफ से राधोबा को पेंशन मिलने लगी। यमुना नदी के पश्चिम के क्षेत्र पर सिंधिया का पुनः अधिकार स्थापित को गया।

1.3.5 युद्ध के परिणाम

प्रथम आग्ंल–मराठा युद्ध के परिणाम दोनों ही पक्षों के लिए अनिर्णायक सिद्ध हुए। मराठों एवं अंग्रेजों दोनों को ही अपार क्षति उठानी पड़ी। सालबाई की संधि ने अस्थायी शांति कायम की। इस महत्व की चर्चा करते हुए एक इतिहासकार ने लिखा है कि सालबाई की

संधि ने मैसूर पर दबाव डालने की क्षमता अंग्रेजों को प्रदान की क्योंकि, मराठों ने हैदरअली से खोए हुए प्रदेश वापस लेने में मदद करने का वचन दिया। एक बार फिर से अंग्रेज भारतीय शक्तियों में फूट डालने में सफल रहे। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि इसने कंपनी और मराठों के बीच अगले 20 वर्ष तक शांति स्थापित कर दी। अनेक इतिहासकारों ने सालबाई की संधि के महत्व को बढ़ा–चढ़ाकर लिखा है तथा इसे 'भारत में अंग्रेजी प्रभुसत्ता के इतिहास में एक नवीन मोड़ माना गया है, परन्तु यह संधि न तो अंग्रेजों के लिए ही लाभकारी थी और न ही मराठों के लिए। प्रथम आंग्ल–मराठा युद्ध ने दोनों पक्षों की कठिनाईयाँ बढ़ा दी, परन्तु वास्तविक लाभ किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ। संधि का वास्तविक महत्व यही है कि इसने कुछ वर्षों के लिए दोनों पक्षों में शांति स्थापित कर दी, जिसका उपयोग दोनों पक्षों ने अपना–अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए किया। अगले बीस वर्षों के दौरान अंग्रेजों ने मैसूर के शासकों, निजाम तथा अवध के नवाब पर प्रभाव स्थापित किया तथा मराठों ने मुगल सम्राट को अपना पक्षधर बना लिया।

1.4 द्वितीय आंग्ल–मैसूर युद्ध

मैसूर के प्रथम युद्ध ने हैदर और अंग्रेजों के मध्य युद्ध को कुछ समय के लिए बंद करवा तो दिया, परन्तु इसे पूर्णतः समाप्त नहीं कर सका। शीघ्र ही दोनों पक्षों के बीच 1780 ई0 में पुनः युद्ध प्रारंभ हो गया। इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे। प्रारंभ से ही मद्रास कौंसिल 1769 ई0 की अपमानजनक संधि की अवहेलना कर रही थी। जब मराठों ने मैसूर पर दो–दो बार आक्रमण किए, तब कंपनी ने हैदर की सहायता नहीं की। इससे हैदर काफी क्रुद्ध हुआ और अंग्रेजों से बदला लेने की ताक में रहने लगा। इसी समय अमेरिकी स्वातंत्र्य संग्राम के चलते यूरोप में फ्रांस और ब्रिटेन एक–दूसरे से उलझ पड़े। भारत पर भी इसका प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों ने अनेक फ्रांसिसी बस्तियों पर अधिकार कर माही–विजय की योजना बनाई। माही पर अंग्रेजी अधिकार ने जलती अग्नि में घी का काम किया, क्योंकि वह क्षेत्र हैदर के अधिकार में था। हैदर ने बिना समय गँवाए अंग्रेजों को सबक सिखाने का फैसला किया। उसने निजाम एवं मराठों को अपने पक्ष में मिलाकर कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया तथा नवंबर, 1780 में आर्काट जीत लिया। अंग्रेजी सेना के कप्तान सर हेक्टर मुनरो और कर्नल बेली को मद्रास भाग जाना पड़ा।

1.4.1 वारेन हेस्टिंग्स और हैदर अली

इस अपमानजनक पराजय की खबर जब कलकत्ता पहुची, तब वारेन हेस्टिंग्स ने धैर्यपूर्वक परिस्थिति का मुकाबला करने का निश्चय किया। उसने सर आयरकूट को बंगाल से मद्रास भेजा। मद्रास कौंसिल को आर्थिक सहायता भी दी गई। अपनी कूटनीतिक चालों द्वारा हेस्टिंग्स ने निजाम, बरार के राजा तथा महादजी सिंधिया को प्रलोभन देकर अपनी तरफ मिला लिया तथा उन्हें युद्ध से तटस्थ कर दिया। हैदर ने इस परिस्थिति का वीरतापूर्वक

मुकाबला किया, परन्तु जुलाई, 1781 ई0 में पोर्टोनोवो के युद्ध में वह आयरकूट के द्वारा पराजित हुआ। इस पराजय से भी हतोत्साहित हुए बिना वह अपनी मृत्यु तक अंग्रेज़ों से अनवरत् संघर्ष करता रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् टीपू सुल्तान ने अपने पिता के कार्य को आगे बढ़ाया। उसने युद्ध जारी रखते हुए अनेक स्थानों पर अंग्रेज़ों को परास्त किया, परन्तु दोनों ही पक्ष कोई भी निर्णायक विजय प्राप्त करने में असफल रहे। अतः दोनों पक्षों ने 7 मार्च, 1784 को मंगलौर की संधि द्वारा युद्ध समाप्त किया।

1.4.2 मंगलौर की संधि

मार्च, 1784 ई0 में टीपू और कंपनी के बीच मंगलौर की संधि हुई। इस संधि की शर्तें वारेन हेस्टिंग्स को बहुत अधिक पसंद नहीं थी, परन्तु वह इनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सका। दोनों पक्षों ने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेशों को इस संधि के द्वारा वापस कर देने का फैसला किया। दोनों ने एक दूसरे के युद्धबंदियों को भी लौटाने का वचन दिया। अंग्रेज़ों ने मैसूर के मामले में हस्तक्षेप न करने का भी आश्वासन दिया। इस संधि से जहाँ एक तरफ टीपू और मैसूर की प्रतिष्ठा बढ़ गई, वहीं अंग्रेजी प्रतिष्ठा को ठेस भी लगी, लेकिन इसके बावजूद इन युद्धों के परिणामस्वरूप दक्षिण से उनका सफाया होना बच गया तथा वे भारत की तीन प्रधान शक्तियों में से एक के रूप में उभरे।

1.5 सारांश

आपने इस इकाई में पढ़ा कि पहला आग्ंल–मराठा युद्ध (1775–82) भारत में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी और मराठा साम्राज्य के बीच लड़े गये तीन आंग्ल–मराठा युद्धों में से पहला था। यह युद्ध सूरत की संधि के साथ शुरु हुआ और सालबाई की संधि के साथ समाप्त हुआ। यह युद्ध दोनों ही पक्षों के लिए अनिर्णायक सिद्ध हुआ। अंग्रेजों और मराठों दोनों को ही इस युद्ध से अपार क्षति उठानी पड़ी। साथ ही साथ इस इकाई में हमने द्वितीय मैसूर युद्ध का भी अध्ययन किया है जिसमें अंग्रेजों ने 1469 ई0 की 'मद्रास की संधि' की शर्तों के अनुसार आचरण नहीं किया और 1770 ई0 में हैदर अली को समझौता के अनुसार उस समय सहायता नहीं दी, जब मराठों ने उस पर आक्रमण किया। अंग्रेजों के इस विश्वासघात से हैदर अली को अत्यधिक क्षोभ हुआ था। उसका क्रोध उस समय और भी बढ़ गया था, जब अंग्रेजों ने हैदर अली की राज्य सीमाओं के अंतर्गत 'माही' की फ्रांसिसी बस्तियों पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। उसने मराठा और निजाम के साथ 1780 में 'त्रिपक्षीय' संधि कर ली, जिससे द्वितीय मैसूर युद्ध प्रारम्भ को गया।

1.7 बोध प्रश्न

1) 1775–82 के मध्य मराठों एवं ईस्ट इंडिया कंपनी के संबंधों को दर्शाएँ।

2) मराठों के प्रति वारेन हेस्टिंग्स की नीति का व्याख्या करें।

3) वारेन हेस्टिंग्स और हैदर अली के संबंध बताएँ।

इकाई–2

1765–1798 ई0 की अवधि में मुगल एवं भारतीय राज्यों के प्रति ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति

इकाई की रुपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 क्लाइव की दूसरी गवर्नरी

2.2.1 अवध के साथ संधि

2.2.2 मुगल सम्राट के साथ संधि

2.2.3 बंगाल में दीवानी की प्राप्ति

2.3 बंगाल में द्वैध शासन (Dyarchy in Bengal)

2.4 हेस्टिंग्स और भारतीय राज्य

2.4.1 हेस्टिंग्स और मुगल सम्राट

2.4.2 अवध के साथ संबंध

2.4.3 रुहेला युद्ध

2.4.4 बनारस के राजा चेतसिंह के साथ संबंध

2.5 कार्नवालिस के प्रशासकीय सुधार

2.6 लार्ड वेल्ज़ली की 'सहायक संधि'

2.7 सारांश

2.8 शब्दावली

2.9 बोध प्रश्न

2.10 सहायक ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेगें कि,

- 1765 में कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दिवानी स्थायी रुप से सौंप दी गई;

- बंगाल में द्वैध शासन के गुण–दोष क्या–क्या है; और
- मुगल सम्राट और भारतीय राज्यों के संबंध का मूल्यांकन करेंगे।

2.1 प्रस्तावना

फरवरी, 1765 ई0 में मीरजाफर की मृत्यु के पश्चात उसका दूसरा पुत्र नजमुद्दौला बंगाल का नवाब बना। उसने अंग्रेजों के साथ एक संधि की जिसके मुताबिक सुरक्षा, वित्त, सेना एवं बाह्य संबंधों पर अंग्रेजों का प्रभुत्व कायम हो गया। राजा नंदकुमार पर आरोप लगाकर उसे मृत्यु दण्ड दिया गया। कंपनी के कर्मचारी मनमानी करने लगे। चारों तरफ अराजकता की स्थिति छा गई। ऐसी ही परिस्थिति में क्लाइव को दूसरी बार गवर्नर बनाकर बंगाल भेजा गया। उसने अपनी कूटनीति द्वारा बंगाल पर अंग्रेज़ों का स्थायी प्रभुत्व कायम किया।

2.2 क्लाइव की दूसरी गवर्नरी

1765 ई0 में क्लाइव दूसरी बार गवर्नर होकर भारत पहुँचा। इस समय तक अंग्रेज़ बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध जीत चुके थे, परंतु बंगाल एवं कंपनी की आंतरिक स्थिति बहुत ही बुरी थी। पराजित शाक्तियों के विषय में भी नीति–निर्धारण का काम शेष था। अतः क्लाइव ने इन समस्याओं की तरफ ध्यान दिया। उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला और मुगल सम्राट शाहआलम के साथ इलाहाबाद की संधि कर ली। इस संधि द्वारा अवध के नवाब और मुगल सम्राट पर कंपनी का प्रत्यक्ष नियंत्रण कायम हो गया। सबसे बड़ी बात जो हुई वह थी कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी का प्राप्त होना। अब ईस्ट इंडिया कंपनी सही मायने में व्यापारी से शासक बन चुकी थी। प्रशासनिक क्षेत्र में क्लाइव ने महत्वपूर्ण सुधार किए। उसका सबसे बड़ा काम था बंगाल में द्वैध–शासन की स्थापना जो वारेन हेस्टिंग्स के आगमन के समय तक चलता रहा। उसने कंपनी के कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं अनुशासनहीनता को भी रोकने का प्रयास किया तथा आवश्यक सैनिक सुधार किये।

2.2.1 अवध के साथ संधि

16 अगस्त, 1765 ई0 को क्लाइव ने इलाहाबाद में शुजाद्दौला के साथ संधि की। संधि की शर्तों के अनुसार अवध के नवाब ने कारा और इलाहाबाद के जिले मुगल सम्राट शाहआलम को देने का वादा किया। युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए उसने 50 लाख रुपये कंपनी को देना स्वीकार किया। चुनार पर अंग्रेज़ों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया गया। अवध में कंपनी को बिना चुंगी दिए व्यापार करने का अधिकार मिला। गाजीपुर और बनारस की जागीर कंपनी की संरक्षकता में बलवंत सिंह और उसके परिवार को पैतृक जागीर के रूप में मिली। अंग्रेज़ों ने अवध की सुरक्षा का भार भी अपने ऊपर लिया, परंतु इसके लिए सेना का खर्च नवाब को देना था। इन सबके बदले अंग्रेज़ों ने अवध का राज्य नवाब को लौटा दिया।

क्लाइव अगर चाहता तो नवाब को पदच्युत भी कर सकता था, परन्तु ऐसा होने पर नवाब के मराठों के संरक्षण में चले जाने का भय था। यह बात कंपनी के हित में नहीं होती इसलिए क्लाइव ने नवाब को संधि में जकड़कर अपना अपना मित्र एवं आश्रित बना लिया।

2.2.2 मुगल सम्राट के साथ संधि

अब दूसरी संधि (अगस्त, 1765) मुगल सम्राट के साथ हुई। यहाँ भी क्लाइव ने अपनी कुटनीतिज्ञता एवं विवेक का परिचय दिया। उसने मुगल सम्राट को अपदस्थ नहीं किया बल्कि उसे जंजीरों में जकड़ दिया। संधि के अनुसार शाहआलम को कारा और इलाहाबाद के जिले मिले। उसके बदले 12 अगस्त, 1765 ई0 के शाही फरमान के अनुसार, मुगल सम्राट ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी स्थायी रूप से कंपनी को सौंप दी। इस कार्य के बदले कंपनी ने उसे 26 लाख रुपए वार्षिक देना स्वीकार किया। कंपनी को' उत्तरी सरकार' (हैदराबाद का उतरी क्षेत्र) की जागीरदारी भी प्राप्त हो गई। शाहआलम परिस्थितिवश बाध्य होकर इलाहाबाद में ही रहने पर मजबूर हो गया। इस संधि के द्वारा अवध के नवाब की ही तरह मुगल सम्राट भी अंग्रेजों की दया का पात्र एवं उनका आश्रित बन बैठा। क्लाइव की यह बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जानी चाहिए। प्लासी और बक्सर के युद्धों के परिणामस्वरुप 1765 ई0 तक अंग्रेज़ मराठों, मैसूर और निजाम के साथ ही महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आए। मुगल साम्राज्य का सूर्य अस्त हो चला।

2.2.3 बंगाल में दीवानी की प्राप्ति

बक्सर के युद्ध में पराजित होने से अवध के नवाब एवं मुगल सम्राट की शक्ति प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। अपनी इज्जत बचाने के लिए इन दोनों ने अंग्रेजों से संधि की। अगस्त, 1765 में शुजाउद्दौला एवं शाहआलम के साथ इलाहाबाद की संधि हुई। इस संधि के अनुसार, क्लाइव दूसरी बार कंपनी का गवर्नर बनकर भारत पहुँचा था। इलाहाबाद तथा कारा के जिले अवध के नवाब से लेकर मुगल सम्राट को सौंप दिए। उसे 26 लाख रुपए की वार्षिक पेंशन भी दी गई। इसके बदले में कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी स्थायी रुप से सौंप दी। शुजाउद्दौला को युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए कंपनी को बहुत अधिक धन देना पड़ा। उसे कंपनी के साथ अनाक्रामक एवं रक्षात्मक संधि भी करनी पड़ी।

2.3 बंगाल में द्वैध शासन (DYARCHY IN BENGAL)

क्लाइव ने बंगाल में जो व्यवस्था कायम की वह दोहरा–शासन या द्वैध शासन के नाम से विख्यात है। इस व्यवस्था के अनुसार, ''कलाईव ने यह योजना बनाई कि विदेशी व्यापार–नीति एवं विदेशी व्यापार का प्रबंध तो कंपनी अपने हाथ में ले–ले तथा लगान बसूलने एवं न्याय के लिए भारतीय पदाधिकारियों को नियुक्त कर दिया जाए।'' इस नीति के द्वारा क्लाइव ने चालाकी से दीवानी संबंधी कामों का जिम्मा कंपनी के नियंत्रण में भारतीय

पदाधिकारियों को सौंप दिया। लगान के लिए दो नायब–नाजिम नियुक्त किए गए। मुहम्मद रजा खाँ बंगाल के और सिताब राय बिहार के नाजिम बने। इनके केंद्रीय दफ्तर क्रमशः मुर्शिदाबाद और पटना में खुले। वसूल किए गए लगान से 26 लाख रुपए वार्षिक मुगल सम्राट को एवं 53 लाख रुपए नवाब को मिलना था। नवाब के जिम्मे अब सिर्फ फौजदारी संबंधी काम छोड़े गए। इस काम में होने वाला खर्च उसे कंपनी से ही मिलना था। सेना के लिए भी उसे कंपनी पर की आश्रित रहना पड़ा। नवाब पर नियंत्रण रखने के लिए मुहम्मद रजा खाँ को ही दीवानी के पद पर नियुक्त किया गया जो अंग्रेजों का विश्वासपात्र था। इस प्रकार बंगाल में दोहनी व्यवस्था लागू हुई–कंपनी एवं नवाब की। सरकार और दत्त के अनुसार, ''यह दोहरी प्रथा कंपनी की उत्तरदायित्व नहीं ग्रहण करने की इच्छा का फल था।'' इस व्यवस्था के अनुसार, धन पर कंपनी का पूरा अधिकार हो गया, किन्तु प्रजा के प्रति उसका कोई कर्तव्य नहीं रहा। दूसरी तरह नवाब के पास न तो धन था न ही सेना, फिर भी प्रजा का उत्तरादायित्व उसी पर था। यह व्यवस्था 1772 ई0 तक वारेन हेस्टिंग्स के आने तक चलती रही।

द्वैध–शासन से लाभ–

बंगाल में लागू की गई द्वैध व्यवस्था अंग्रेजों के लिए अत्यंत ही लाभदायक सिद्ध हुई। इसके द्वारा वास्तविक शक्ति कंपनी के हाथों में चली गई। अंग्रेज अब सच्चे अर्थों में व्यापारी से शासक बन चुके थे। इस व्यवस्था के द्वारा बिना किसी भारतीय शक्ति को नाराज किए या जनमानस को उद्वेलित किए कंपनी के हाथों में सारी शक्तियाँ आ गई। इसके चलते विदेशी व्यापारिक कंपनियाँ, जो बंगाल में व्यापार करतीं थीं, उनसे बिना किसी विशेष कठिनाई के कंपनी को आमदनी होने लगी, क्योंकि वे कर नवाब को देती थी, कंपनी को नहीं। यह अलग बात है कि नवाब नाममात्र ही इस धन का उपयोग करता था। वास्तविक उपभोक्ता अंग्रेजी कंपनी ही थी। कंपनी के पास इस समय वैसे योग्य पदाधिकारियों का सर्वथा अभाव था जो बंगाल की लगान–व्यवस्था संभाल सकते। अतः क्लाइव ने भारतीय पदाधिकारियों की सेवाओं का उपयोग कर अपना हित साधा। इससे कंपनी के खर्च में भी कमी हुई। कंपनी को आर्थिक लाभ भी बहुत अधिक हुए। संक्षेप में इस व्यवस्था के द्वारा क्लाइव ने अंग्रेजी हितों की रक्षा की।

द्वैध–शासन के दोश–

जहाँ दोहरी व्यवस्था कंपनी के लिए प्रारम्भ में लाभदायक सिद्ध हुई, वहीं बंगाल पर और अतंतः कंपनी पर भी इसका दुष्प्रभाव पड़ा। 1767 ई0 में क्लाइव के वापस लौटने के पश्चात इस प्रथा के दोष पूरी तरह उभरकर सामने आये। कंपनी के अधिकारी स्थिति पर नियंत्रण नहीं रख सके। फलस्वरुप प्रशासनिक ढाँचा लड़खड़ा गया। कर्मचारियों की मनमानियाँ एवं अत्याचार बढ़ गए, उद्योग–धंधे नष्ट हो गए, व्यापार को क्षति पहुँची तथा जनता को असहनीय कष्ट भोगना पड़ा। कंपनी के एक कर्मचारी रिचर्ड बेचर ने अपने एक

पत्र में 24 मई, 1769 ई0 को सिलेक्ट कमिटी से शिकायत की कि, ''जिस अंग्रेज के पास विवेक है उसे यह सोचकर अवश्य दुख होगा कि कंपनी को दीवानी मिलने के समय से इस देश के लोगों की दशा पहले से बुरी है और इसमें भी मुझे डर है कि बात निःसंदेह ठीक है. .... यह सुन्दर देश जो अत्यंत निरंकुश और स्वेच्छाचारी सरकार के अधीन भी समृद्ध था, अपने विनाश की ओर बढ़ता चला जा रहा है।''

2.4 हेस्टिंग्स और भारतीय राज्य

आंतरिक और वैधानिक सुधारों के अतिरिक्त हेस्टिंग्स का शासनकाल कंपनी के राज्य–विस्तार के दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। हेस्टिंग्स के प्रयासों के फलस्वरुप कंपनी की सीमा में विस्तार हुआ तथा उसकी राजनीतिक स्थिति पहले की अपेक्षा सुदृढ़ हुई। उसने मराठों, मैसूर के शासकों, अवध, बनारस के शासकों, मुगल सम्राट आदि के साथ संबंध निश्चित किए एवं रुहेलों को पराजित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

वारेन के भारत आने के समय यद्यपि बंगाल, बिहार और उड़ीसा में कंपनी की सत्ता स्थापित हो चुकी थी तथापि देश के अन्य भागों में स्थिति अंग्रेजों के प्रतिकूल थी। मराठे मुगल सम्राट पर अपना प्रभाव स्थापित कर अंग्रेजों की सत्ता को चुनौती देने का स्वप्न देख रहे थे। हैदराबाद के निज़ाम द्वारा फ्रांसीसियों की उपस्थिति किसी भी समय अंग्रेजों के लिए खतरनाक बन सकती थी। अवध के सीमावर्ती राज्य पर भी नियंत्रण रखना आवश्यक था, क्योंकि मराठों की सीमाएं इससे सटी थीं। इसी प्रकार, रुहेलखण्ड पर अफगानों का प्रभाव बढ़ाने की आशंका थी। वस्तुतः बंगाल के बाहर सर्वत्र अंग्रेजों के दुश्मन विद्यमान थे और अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे। अतः हेस्टिंग्स ने कंपनी सत्ता के सुदृढ़ीकरण के लिए इन शक्तियों को अपने प्रभाव में लाने का प्रयास किया।

2.4.1 हेस्टिंग्स और मुगल सम्राट

बक्सर के युद्ध के पश्चात् क्लाइव ने मुगल सम्राट शाहआलम द्वितीय के साथ इलहाबाद की संधि की थी। इसके अनुसार मुगल सम्राट ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी कंपनी को प्रदान की। शाहआलम को कंपनी ने इलाहाबाद और कारा के जिले अवध के नवाब से दिलवा दिए। कंपनी ने शाहआलम को दीवानी के बदले 26 लाख रुपए वार्षिक देना भी स्वीकार किया। कंपनी को सम्राट ने 'उत्तरी सरकार' की जागीदारी भी प्रदान कर दी, परन्तु कंपनी और मुगल सम्राट की यह मित्रता बहुत दिनों तक कायम रहने वाली नहीं थी। यद्यपि पानीपत की तृतीय युद्ध (1761 ई0) से मराठा शक्ति को तीव्र आघात पहुँचा, तथापि उनकी शक्ति पूर्णतया नष्ट नहीं हुई। पेशवा माधवराव ने पुनः मराठों को संगठित करना आरंभ किया। थोड़े ही समय में उसने अपनी शक्ति का विस्तार कर भारत के महत्वपूर्ण राज्यों को अपने प्रभाव में ले लिया। शाहआलम भी, जो अब तक अच्छी तरह समझ गया था कि अंग्रेज भारत का शासक बनना चाहते थे, मराठों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित कर रहा था।

1771 ई0 में मराठों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया तथा शाहआलम को इलाहाबाद से बुलाकर अपनी संरक्षकता में पुनः दिल्ली की गद्दी पर आसीन किया। शाहआलम ने इस कृपा के बदले मराठों को इलाहाबाद और कारा के जिले सौंप दिए। इन जिलों के मराठों के अधिकार में जाने से कंपनी के हितों की क्षति की संभावना थी। मराठों और मुगल का मैत्रीपूर्ण संबंध अंग्रेजों के लिए खतरनाक हो सकता था। इसके अतिरिक्त कंपनी को जो भारी रकम प्रति वर्ष मुगल बादशाह को देनी पड़ती थी उसे नई परिस्थितियों में देने का कोई औचित्य नहीं था। इसलिए, हेस्टिंग्स ने भारत आते ही मुगल सम्राट के प्रति कंपनी की नीति में परिवर्तन किया। हेस्टिंग्स ने सर्वप्रथम मुगल सम्राट को दी जाने वाली धन की वार्षिक राशि बंद कर दी। उसने अवध और कारा के जिले भी शाहआलम से वापस ले लिए तथा इन्हें पुनः अवध के नवाब को 50 लाख रूपए के बदले दे दिया। हेस्टिंग्स के इस कार्य से जहाँ कंपनी को अवध पर अपना शिकंजा मजबूत करने का मौका मिला, वहीं मराठों के विरुद्ध अवध की सहायता भी प्राप्त हो गई। मराठों की उत्तरी भारत की राजनीति में प्रभावशाली भूमिका निभाने की महत्वकांक्षाओं पर भी अंकुश लग गया। यद्यपि, हेस्टिंग्स ने मुगल सम्राट शाहआलम के साथ जो व्यवहार किया, उसकी अनेक इतिहासकारों ने आलोचना की है, उसने कार्य को निंदनीय, अन्यायपूर्ण एवं अनुचित बताया है, तथापि व्यावहारिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से हेस्टिंग्स के कार्य को उचित ही माना जा सकता है।

2.4.2 अवध के साथ संबंध

हेस्टिंग्स की विदेश–नीति का एक मुख्य भाग था– अवध के नवाब को मित्र बनाए रखना जिससे कंपनी की सीमाएं अफगानों और मराठों से सुरक्षित रह सकें। इस उद्देश्य से हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ 1773 ई0 में बनारस की संधि की। नवाब को इलाहाबाद और कारा के जिले 50 लाख रुपए के बदले में वापस दे दिए गए। कंपनी ने अवध की सुरक्षा के लिए एक अंग्रेजी सेना रखने की व्यवस्था की जिसका खर्च नवाब को वहन करना था। हेस्टिंग्स ने नवाब को यह आश्वासन भी दिया कि वह रुहेलखण्ड पर अधिकार करने के लिए नवाब को सैनिक सहायता देगा। नवाब ने इस सैनिक सहायता के बदले 40 लाख रुपए कंपनी को देने का वचन दिया। इस संधि से कंपनी और अवध के बीच मित्रता तो स्थापित हुई, परन्तु इसके कारण हेस्टिंग्स रुहेला युद्ध में फंस गया।

1775 ई0 में नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु के पश्चात कलकत्ता कौंसिल ने हेस्टिंग्स की इच्छा के विरुद्ध नए नवाब आसफउद्दौला के साथ 1775 ई0 में फैजाबाद की संधि की। इस संधि के अनुसार बनारस एवं गाजीपुर के जिलों पर कंपनी का प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित हो गया। नवाब के अंग्रेजी सेना के खर्च के लिए पहले से अधिक धन देना स्वीकार किया। उसे नवाब शुजाउद्दौला की विधवा बेगमों को भी अपने खजाने का बहुत बड़ा भाग देना पड़ा। इस संधि ने नवाब की आर्थिक स्थिति दुर्बल कर दी। कंपनी की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए उसे बेगमों से ज़बर्दस्ती धन वसूलना पड़ा जिसमें हेस्टिंग्स ने उसकी सहायता

की।

2.4.3 रुहेला युद्ध (THE RUHELA WAR)

हेस्टिंग्स का एक अन्य विवादास्पद कार्य था रुहेला युद्ध में अवध के नवाब की सहायता करना। रुहेलखण्ड में अफगान सरदार हाफिज़ रहमत खाँ का स्वतंत्र राज्य था। इस राज्य पर मराठे, अंग्रेज और अवध के नवाब तीनों ही अपना अधिकार जमाना चाहते थे। मराठों से सुरक्षा के उद्देश्य से हाफिज रहमत खाँ ने अवध के नवाब के साथ जून, 1772 ई0 में एक संधि कर ली जिसके अनुसार, 40 लाख रुपयों के बदले अवध के नवाब ने मराठों के विरुद्ध रुहेलों की सहायता का वचन दिया था। दूसरी तरफ 1773 ई0 में बनारस की संधि द्वारा हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब को रुहेलखण्ड पर अधिकार करने में सहायता करना स्वीकार कर लिया था। इन्हीं परिस्थितियों में 1773 ई0 में मराठा सेना रुहेलखण्ड पर आक्रमण करने के लिए बढ़ी। अवध के नवाब ने अपनी सेना रुहेलों की सहायता के लिए भेजी; परन्तु मराठे पेशवा माधवराव की मृत्यु के कारण बिना युद्ध किए ही वापस लौट गए। मराठा सेना के लौटने के पश्चात नवाब ने हाफिज रहमत खाँ से 40 लाख रुपए की माँग की जिसे रुहेला सरदार ने इस तर्क के आधार पर ठुकरा दिया कि युद्ध हुआ ही नहीं और नवाब को सैनिक सहायता नहीं देनी पड़ी। इस घटना से नवाब क्रुद्ध हो उठा। उसने स्वयं रुहेलखण्ड पर अधिकार करने की योजना बनाई तथा हेस्टिंग्स से सहायता की माँग की। हेस्टिंग्स ने अफगानों की शक्ति को कुचलने एवं मराठों को दूर रखने के उद्देश्य से नवाब का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। हेस्टिंग्स ने अवध की सहायता के लिए एक अंग्रेजी सेना भेजी। अवध और अंग्रेजों की संयुक्त सेना ने अप्रैल, 1774 ई0 में रुहेलखण्ड में प्रवेश किया। मीरानपुर कटरा के युद्ध में रुहेले बुरी तरह पराजित हुए। रहमत खाँ युद्ध क्षेत्र में मारा गया। रुहेलों पर भीषण अत्याचार हुए। अनेक रुहेले देश छोड़कर भाग गए। करीब 20,000 रुहेलों को रुहेलखण्ड से निकाल दिया गया और रुहेलखण्ड अवध में सम्मिलित कर लिया गया। हेस्टिंग्स का यह कार्य नैतिक दृष्टिकोण से अनुचित था लेकिन, रुहेला युद्ध के कारण हेस्टिंग्स एवं कंपनी को महत्वपूर्ण आर्थिक एवं राजनीतिक लाभ उपलब्ध हुए।

2.4.4 बनारस के राजा चेतसिंह के साथ संबंध

बनारस का राज्य पहले अवध के नियंत्रण में था, परन्तु फैजाबाद की संधि (1775 ई0) के अनुसार बनारस पर कंपनी का सीधा नियंत्रण स्थापित हुआ। बनारस के राजा को 22½ लाख रुपए की राशि प्रतिवर्ष कंपनी को देने का वायदा करना पड़ा। धन की कमी को पूरा करने के लिए हेस्टिंग्स ने बनारस के राजा चेतसिंह पर अनुचित दबाव डालना आरम्भ किया। सन् 1778–79 में राजा दो बार 5–5 लाख रुपये माँगे गए। पहली बार तो उसने 5 लाख की राशि दे दी परन्तु दूसरी बार हेस्टिंग्स से आश्वासन माँगा कि भविश्य में उससे और अधिक धन नहीं माँगा जाएगा। क्रुद्ध होकर हेस्टिंग्स ने सारी राशि को किश्तों के बदले एक साथ तत्काल जमा करने का आदेश दिया। चेतसिंह की असमर्थता पर हेस्टिंग्स ने सेना

की सहायता से 5 लाख के अतिरिक्त सेना के खर्च के लिए 2,000 पौंड भी ज़बर्दस्ती वसूले।

हेस्टिंग्स की धन–पिपासा इतने से भी पूरी नहीं हो सकी। 1780 ई0 में उसने पुनः राजा चेतसिंह से 5 लाख रुपए की माँग की जिसे राजा ने किसी तरह पूरा किया। इसके तत्काल बाद उससे कंपनी की सेना के लिए 2,000 घुड़सवार सैनिकों की व्यवस्था करने को कहा गया। चेतसिंह के अनुरोध पर घुड़सवारों की संख्या 1000 कर दी गई, परन्तु चेतसिंह इसे भी पूरा नहीं कर सका। उसने क्रमशः 500 घुड़सवार और 500 पैदल सेनिकों की टुकड़ियाँ एकत्र कर हेस्टिंग्स को सूचना भेजी। हेस्टिंग्स ने इसे अपना अपमान समझा। उसने चेतसिंह पर 50 लाख जुर्माना किया एवं इसे वसूलने के लिए सेना के साथ बनारस की तरफ बढ़ा। चेतसिंह बक्सर में हेस्टिंग्स से मिला तथा अपनी स्थिति स्पष्ट की, परन्तु हेस्टिंग्स ने इस पर ध्यान नहीं दिया। बनारस पहुँचकर उसने चेतसिंह को कैद कर लिया।

बनारस में चेतसिंह की गिरफ्तारी ने जलती अग्नि में घी का कार्य किया। राजा के सैनिकों ने विद्रोह कर अनेक अंग्रेजों की हत्या कर डाली। हेस्टिंग्स को विवश होकर भागकर चुनार में शरण लेनी पड़ी। अपनी सेना को संगठित कर हेस्टिंग्स पुनः बनारस आ धमका। इस बार उसने बनारस का विद्रोह दबा दिया। चेतसिंह को बनारस छोड़कर ग्वालियर भागना पड़ा। बनारस की गद्दी चेतसिंह के भतीजे को दी गई जिसने 40 लाख रुपए प्रतिवर्ष कंपनी को देना स्वीकार किया। हेस्टिंग्स का यह कार्य भी 'निर्दयतापूर्ण तथा प्रतिहिंसा से ओतप्रोत था।'

2.5 कार्नवालिस के प्रशासकीय सुधार

1786 में कंपनी ने एक उच्चवंश तथा कुलीन वृत्ति के व्यक्ति लार्ड कार्नवालिस को पिट्स इंडिया ऐक्ट (Pitt`s India Act) के अंतर्गत रेखांकित शांति स्थापना तथा शासन के पुनर्गठन के हेतु गवर्नर जनरल नियुक्त कर भारत भेजा। उसे विशेषकर एक संतोषजनक भूमि कर व्यवस्था स्थापित करना, एक ईमानदार तथा कार्यक्षम न्याय व्यवस्था बनाना तथा कंपनी के व्यापार विभाग का पुनर्गठन करना था। उसने वारेन हेस्टिंग्स के स्थापित किए हुए ढ़ाँचे पर ही अतिरिक्त शासन व्यवस्था का गठन किया, जो 1858 तक चलता रहा।

न्यायिक सुधार– कार्नवालिस का प्रथम कार्य जिले की समस्त शक्ति को कलक्टरों के हाथों में केन्द्रित करना था और यह उन आदेशों के अनुकूल था जो डाइरेक्टरों ने उसे दिए थे तथा जिसके कर ना अथवा 'रक्त का मूल्य' (blood money) निर्धारित करना बंद कर दिया गया। इसी प्रकार मामले की गम्भीरता के अनुसार अंग विच्छेदन के स्थान पर कड़ी कैद की सजा की आज्ञा दी गई। इसी प्रकार 1793 ई0 में यह निश्चय किया गया कि शाक्षी के ''धर्म विशेष'' का मामले पर कोई प्रभाव नहीं होगा। मुस्लिम कानून के अनुसार मुसलमानों की हत्या के मामले में अन्य धर्म वाले शाक्षी नहीं दे सकते थे।

पुलिस के सुधार– न्यायिक सुधारों को लागू करने तथा अनुपूरण करने के लिए

पुलिस प्रशासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। कलकत्ता में गुण्डों तथा दुश्चरित्र लोगों का ही राज्य बन गया था। कुछ बाजारों से तो लोग सूर्यास्त के पश्चात गुजरते ही नहीं थे। पुलिस अधीक्षक (Superintendents) भी प्रायः भ्रष्ट थे। पुलिस के कर्मचारियों में तत्परता तथा इमानदारी लाने के लिए कार्नवालिस ने उनके वेतन बढ़ा दिए तथा चोरों तथा हत्यारों को पकड़ने पर पुरस्कार देने का प्रस्ताव किया।

प्रशासनिक व्यवस्था का यूरोपीयकरण– बाद के अपने अन्य देशवासियों की भांति कार्नवालिस भी जातीय भेदभाव से प्रेरित था। वह भारतीयों को हीन दृष्टि से देखता था। वह प्रत्येक भारतीयों को भ्रष्ट मानता था। उसने प्रत्येक उच्च पद पर यूरोपीयों को ही नियुक्त किया। अनुबद्ध सेवाओं (Covenanted Services) के द्वार भारतीयों के लिए बंद थे। सेना में जमींदार तथा सूबेदार, प्रशासनिक सेवा में मुंसिफ, सदर अमीन अथवा डिप्टी कलक्टर से ऊँचे पद भी अन्हें उपलब्ध नहीं थे। सर जॉन शोर के अनुसार अंग्रेजों की नीति यह थी कि अंग्रजों को लाभ पहुँचाया जाए तथा भारतीयों को केवल वही पद दिया जाए जिसके लिए अंग्रेज उपलब्ध न हों।

2.6 लार्ड वेलेजली की सहायक संधि

वेलेजली एक महान साम्राज्यवादी था। कंपनी शासन के विस्तार के लिए उसने जो सबसे सरल और प्रभावशाली अस्त्र व्यवहार में लाया, वह सहायक संधि के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार की संधि की व्यवस्था भारत में सर्वप्रथम फ्रांसिसी गवर्नर डूप्ले ने की थी। आवश्यकतानुसार वह भारतीयों नरेशों को सैनिक सहायता देता तथा बदले में उनसे धन प्राप्त करता। बाद में क्लाइव एवं कार्नवालिस ने भी इसका सहारा लिया, परन्तु इस व्यवस्था को सुनिश्चित एवं व्यापक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय वेलेजली को ही है।

मुख्य तत्व मितव्ययता तथा सरलता थे। 1787 ई0 में जिलों में कार्यवाह–कलक्टरों (collectors-in-charge) को दीवानी अदालतों के दीवानी न्यायाधीश भी नियुक्त कर दिया गया तथा इसके अतिरिक्त उन्हें फौजदारी शक्तियाँ और सीमित मामलों फ़ौज़दारी न्याय करने का भी अधिकार दे दिया गया था।

1790 ई0 और 1792 ई0 के बीच फौज़दारी न्याय में कुछ अन्य परिवर्तन भी किए गए। भारतीय न्यायाधीशों वाली ज़िला फौजदारी अदालतें समाप्त कर उनके स्थान पर 4 भ्रमण करने वाले न्यायालय (circuit courts), 3 बंगाल के लिए तथा 1 बिहार के लिए नियुक्त किए गए। इन न्यायालयों के अध्यक्ष अनुबद्ध यूरोपीय (covenanted European) ही होते थे तथा काजी और मुफ़्ती उनकी सहायता करते थे। ये न्यायालय जिलों का दौरा करने तथा नगर दण्डनायकों (magistrates) द्वारा निर्देशित फौजदारी मामलों का निर्णय करते थे। इसी प्रकार मुर्शिदाबाद में स्थित सदर निज़ामत अदालत के स्थान पर एक ऐसा ही न्यायालय कलकत्ता में स्थापित कर दिया गया जिसमें गवर्नर–जनरल तथा उसकी परिषद

के सदस्य सम्मिलित थे तथा जिसकी सहायता के लिए मुख्य क़ाजी तथा मुख्य मुफ़्ती होते थे।

कार्नवालिस संहिता (Cornwallis Code)–

कार्नवालिस न्यायिक सुधारों को 1793 ई0 तक अंतिम रुप देकर कार्नवालिस संहिता के रुप में प्रस्तुत किया। यह सुधार प्रसिद्ध सिद्धान्त ''शक्तियों का पृथकीकरण'' (Seperation of powers) पर आधारित था। उसने कर तथा न्याय प्रशासनों को पृथक कर दिया। उस समय तक जिले में कलक्टरों के पास भूमि कर विभाग तथा विस्तृत न्यायिक तथा दण्डनायक शक्तियाँ होती थीं। कार्नवालिस ने अनुभव किया कि कलक्टर के रुप में किए गए अन्याय का निर्णय कोई स्वयं न्यायाधीश के रुप में कैसे कर सकता है। जमींदार तथा कृषक को इस न्याय में विश्वास नहीं होगा। अतएव कार्नवालिस संहिता द्वारा कलक्टर की न्यायिक तथा फ़ौजदारी शक्तियां ले ली गई तथा उसके पास केवल कर सम्बन्धी शक्तियां ही रह गईं। जिला दीवानी न्यायालयों में कार्य के लिए एक नए अधिकारियों की श्रेणी जिला न्यायाधीशों की गठित की गई। इनको फ़ौजदारी तथा पुलिस के कार्य भी दिए गए।

फौजदारी कानून में सुधार – 1790–93 के बीच कार्नवालिस ने फ़ौजदारी कानून में कुछ परिवर्तन किए जिन्हें अंग्रेजी संसद ने एक अधिनियम द्वारा 1797 में प्रमाणित कर दिया। दिसम्बर 1790 में मुसलमान न्यायाधिकारियों के मार्गदर्शन के लिए एक नियम बनाया गया जिसके अनुसार हत्या के मामलों में हत्यारे की भावना पर अधिक बल दिया गया न कि हत्या के अस्त्र अथवा ढ़ंग पर। इसी प्रकार मृतक के अभिभावकों की इच्छा से क्षमा वेलेजली ने भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राजनैतिक परिधि में लाने के लिए, सहायक संधि प्रणाली का प्रयोग किया। इससे अंग्रेजी सत्ता की श्रेष्ठता स्थापित हो गई और नेपोलियन का भी भय टल गया। इस प्रणाली ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रसार में विशेष भूमिका निभाई और उन्हें भारत का एक विस्तृत क्षेत्र हाथ लगा।

सहायक संधि की प्रमुख शर्तें निम्नलिखित थीं–

(i) सहायक संधि स्वीकार करने वाला देशी राज्य अपनी विदेशी नीति को कंपनी के सुपुर्द कर देगा। वह बिना कंपनी की अनुमति के किसी अन्य राज्य से युद्ध, संधि या मैत्री नहीं कर सकेगा।

(ii) देशी राज्य कंपनी की स्वीकृति प्राप्त किए बिना अंग्रेजों के अतिरिक्त किसी अन्य यूरोपीय या अंग्रेजों के शत्रु–राज्य के व्यक्ति को अपने दरबार में आश्रय, शरण या नौकरी नहीं देंगे।

(iii) संधि स्वीकार करने वाले देशी राज्यों की सुरक्षा के लिए कंपनी उन राज्यों में एक अंग्रेजी सेना रखेगी, जिसका खर्च उस राज्य को ही वहन करना होगा। सेना के खर्च के लिए नकद वार्षिक धनराशि या राज्य का कुछ इलाका कंपनी को सुपुर्द

करना होगा।

(iv) देशी रियासतें अपने दरबार में एक अंग्रेज रेजीडेंट रखेगी तथा रेजीडेंट के परामर्श के अनुसार ही रियासत का शासन प्रबंध करेगी।

2.7 सारांश

आपने इसे इकाई में पढ़ा कि 1765–1798 तक मुग़ल और भारतीय राज्यों के प्रति ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियाँ और उसके परिणामों से भारत में अंग्रेजी साम्राज्य विस्तार के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई हैं। साथ ही साथ आपने यह भी पढ़ा है कि बक्सर के युद्ध के पश्चात् भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव क्लाइव ने रखी एवं साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए उसे दूसरी बार गवर्नर बनाकर भारत भेजा गया जिसने 1765 में अवध के साथ संधि और मुग़ल सम्राट शाहआलम के साथ संधि की। क्लाइव ने बंगाल की उलझनों को कुख्यात दोहरी प्रणाली द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया।

2.8 बोध प्रश्न

1) बंगाल में क्लाइव की दूसरी गवर्नरी का उल्लेख करें।

2) क्लाइव द्वारा बंगाल में लागू किए गए दोहरा शासन प्रबंध (द्वैध शासन) की प्रमुख विशेषताएँ बताएँ।

3) कार्नवालिस के प्रशासनिक सुधारों का वर्णन कीजिए।

4) 'सहायक संधि' की शर्तों का वर्णन किजिए।

इकाई–3

रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773, पिट्स इण्डिया एक्ट 1784 एवं 1793 का चार्टर अधिनियम–पृश्ठभूमि, प्रावधान एवं महत्व

इकाई की रूपरेखा :

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 रेग्यूलेटिंग एक्ट, 1773

3.2.1 रेग्यूलेटिंग एक्ट के प्रावधान

3.2.2 रेग्यूलेटिंग एक्ट का महत्व

3.3 पिट्स इंडिया एक्ट, 1784

3.4 1793 का चार्टर एक्ट

3.5 सारांश

3.6 शब्दावली

3.7 बोध प्रश्न

3.8 सहायक ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि ईस्ट इंडिया कंपनी की बिगड़ती हुई वित्तिय स्थिति को सुधारने के लिए ब्रिटिश संसद ने कुछ एक्ट पारित किये ताकि वो भारतीय प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण रख सके। ब्रिटिश संसद द्वारा पारित रेग्यूलेटिंग एक्ट, कंपनी के भारतीय प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण कदम था।

3.1 प्रस्तावना

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में सत्ता ग्रहण करने के पश्चात् सर्वत्र प्रशासनिक अव्यवस्था तथा अराजकता का वातावरण व्याप्त हो गया। कंपनी के कर्मचारी जनता के शोषण और स्वयं के लिए अधिकाधिक धन एकत्रित करने में व्यस्त थे। वे शीघ्र ही धनाढ्य बनकर स्वदेश वापस जाकर उस धन को वहाँ के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को भ्रष्ट करने में प्रयुक्त करते थे।

सीमा विस्तार तथा विभिन्न युद्धों में भारी व्यय के कारण कंपनी आर्थिक कठिनाई में थी। विस्तृत प्रदेश, सेना व्यवस्था तथा विभिन्न युद्धों से कंपनी पर आर्थिक बोझ इतना बढ़ गया कि वह अपने कर्मचारियों के वेतन का भुगतान करने में भी असमर्थता का अनुभव कर रही थी। सन् 1772 ई0 में तो आर्थिक अस्थिरता इतनी बढ़ गई कि वह दिवालिया होने की स्थिति में आ गई। 26 जनवरी, सन् 1772 को ब्रिटिश संसद ने कंपनी के विविध कार्यों की जाँच के लिए एक प्रवर समिति तथा गुप्त समिति नियुक्त की। सन् 1773 में कंपनी ने संसद

से आर्थिक सहायता के लिए प्रस्ताव किया।

3.2 रेग्यूलेटिंग एक्ट, 1773

ब्रिटिश संसद द्वारा पारित यह रेग्यूलेटिंग एक्ट कंपनी के भारतीय प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण कदम था। रेग्यूलेटिंग एक्ट पारित करने का मुख्य उद्देश्य कंपनी के कार्यों को भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों स्थानों पर नियंत्रित करना तथा व्याप्त दोषों को दूर करना था। कंपनी की गतिविधियों के दो प्रमुख केन्द्र– इंग्लैण्ड तथा भारत थे। अधिनियम के सम्पूर्ण उपबन्धों को प्रवर्तन की दृष्टि से दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रथम, ऐसे उपबन्ध जिनका प्रवर्तन इंग्लैण्ड में था और द्वितीय ऐसे उपबन्ध जो भारत में प्रवर्तन में थे।

3.2.1 रेग्यूलेटिंग एक्ट के प्रावधान

इस अधिनियम द्वारा कंपनी के सविधान में इंग्लैण्ड तथा भारत दोनों में ही परिवर्तन लाए गये। कंपनी के सम्पूर्ण प्रशासन की देखभाल करने के लिए इंग्लैण्ड में दो संस्थाएँ– निदेशक मंडल (Court of Directors) और स्वत्वधारी मंडल (Court of Properietors) गृह सरकार के अंग थे। पूर्ववर्ती संस्था इंग्लैण्ड में कंपनी की कार्यपालिका थी। इसमें 24 निदेशक होते थे। इसका चुनाव प्रतिवर्ष कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स द्वारा किया जाता था। निदेशक मंडल प्रतिवर्ष सदस्यों में से एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष का चुनाव करता था। अध्यक्ष कंपनी का मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता था। रेग्यूलेटिंग एक्ट के तहत निदेशकों की पदावधि एक वर्ष से बढ़कर चार वर्ष तक कर दी गई। साथ ही यह उपबन्धित किया गया कि कुल संख्या का चतुर्थांश अपनी अवधि समाप्त करके प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करेंगे अर्थात अब केवल 6 निदेशकों का चुनाव प्रतिवर्ष होना था। कोर्ट ऑफ प्रोप्राइटर्स में वोट देने का अधिकार उन लोगों को दिया गया जो चुनाव से कम से कम एक वर्ष पूर्व एक हजार पौण्ड के शेयर के स्वामी रहे हों। इसके पूर्व यह राशि 500 पौण्ड की थी।

रेग्यूलेटिंग एक्ट के प्रवर्तन में आने से पूर्व कंपनी के भारतीय प्रशासन में सबसे गम्भीर दोष यह था कि बंगाल, मद्रास और बम्बई प्रेसिडेंसियाँ एक दूसरे से पृथक एवं स्वतंत्र थीं। ये भारत में किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं थीं। प्रेसीडेनसी का सीधा सम्बन्ध इंग्लैण्ड में स्थित निदेशक मण्डल से था। भारत में ऐसा कोई प्राधिकारी नहीं था जो किसी भी रूप में इन तीनों प्रेसीडेंसियों के कार्यों में समन्वय स्थापित कर सके। रेग्यूलेटिंग एक्ट ने इस दोष को दूर करने का प्रयास किया और तीनों प्रेसीडेन्सियों के मध्य समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से शासन प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। समन्वय करने तथा सशक्त केन्द्रिय व्यवस्था स्थापित करने के लिए बंगाल प्रेसीडेन्सी को सर्वोच्चता प्रदान की गई और अन्य प्रेसीडेंसियों को इसके अधीन कर दिया गया।

बंगाल के गवर्नर को अब अंग्रेजी क्षेत्रों का गवर्नर–जनरल कहा गया और इसके परामर्श के लिए 4 सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति बनाई गई, जिसके निर्णय बहुतम के अनुसार होगे। इनका कार्यकाल 5 वर्ष का रखा गया। इन सदस्यों को कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की संस्तुति पर केवल ब्रिटिश सम्राट द्वारा हटाया जा सकता था। बंगाल का प्रथम गवर्नर–जनरल वारेन हेस्टिंग्स को बनाया गया। उसकी कार्यकारिणी के अन्य सदस्य थे– फिलिप फ्रांसिस, क्लेवरिंग, मानसन तथा वारवेल। इसमें केवल वारवेल ही हेस्टिंग्स का

समर्थक था, जबकि फ्रांसिस उसका घोर विरोधी था। वारवेल की नियुक्ति भारत में हुई थी, बाकी तीनों इंग्लैण्ड से आए थे।

रेग्यूलेटिंग एक्ट के तहत 1774 ई0 में कलकत्ता में एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। इनमें एक मुख्य एवं तीन अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की गई। मुख्य न्यायाधीश के पद पर सर एलिजा इम्पे की नियुक्ति की गई। अन्य न्यायाधीश– चैम्बर्स, लिमैस्टर एवं हाइड थे। न्यायाधीशों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट करता था। यह एक अभिलेख न्यायालय था। इस न्यायालय को सिविल, आपराधिक, नौसेना तथा धार्मिक मामलों में निर्णय करने का अधिकार था।

3.2.2 रेग्यूलेटिंग एक्ट का महत्व

रेग्यूलेटिंग एक्ट के विषय में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी भी यूरोपीय शक्ति द्वारा सुदूर सभ्य लोगों के देश में प्रशासन करने का यह प्रथम प्रयत्न था। उत्तरी अमेरिका की नाईं भारत देश नहीं था जहाँ यूरोपीय लोग ही रहते थे और जहाँ यूरोपीय संस्थाओं का लागू करना तथा चलाना बहुत सरल था। इसी प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी के भारतीय प्रदेश दक्षिणी अमेरिका की भांति नहीं थे जो कि एक अविकसित प्रदेश हो। इस प्रकार रेग्यूलेटिंग एक्ट एक अंजान समुद्र में नाव चलाने की भांति था। इसमें भारत के प्रशासन का ब्यौरा कंपनी की अपनी युक्तियों को छोड़ दिया गया था। इसके द्वारा बंगाल, मद्रास तथा बम्बई में एक ईमानदार तथा कुशल प्रभुसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। कंपनी के अधिकारी अपनी शक्तियों का दुरूयोग न कर सकें, इस उद्देश्य से उन्होंने कलकत्ते में एक उच्च न्यायालय भी स्थापित कर दिया। इंग्लैण्ड में कोई भी सरकारी पदाधिकारी कानून की परिधि से बाहर नहीं था और वह अपने कार्यों के लिए साधारण न्यायालय में उत्तरदायी था। अतएव थोड़े में हम यह कह सकते हैं कि यह अधिनियम अधिक अच्छा प्रशासन स्थापित करने के लिए एक प्रयत्न था परन्तु चूंकि समस्या का पूर्ण ज्ञान नहीं था तथा यह अधिनियम अज्ञान से बनाया गया। अतएव पूर्णतया असफल रहा तथा इससे वारेन हेस्टिंग्स की स्थिति दृढ़ नहीं हुई अपितु उसकी कठिनाईयाँ बढ़ी।

3.3 पिट्स इंडिया एक्ट, 1784

1784 के अधिनियम से कंपनी के लन्दन स्थित प्रशासन में परिवर्तन आए। इससे सरकार का कंपनी के मामलों में नियंत्रण बढ़ गया। यद्यपि कंपनी के व्यापार को अछूता छोड़ दिया गया परन्तु सभी असैनिक, सैनिक तथा राजस्व सम्बन्धी मामलों को एक नियंत्रण बोर्ड के अधीन कर दिया गया, जिसमें एक चांसलर ऑफ एक्सचेकर (Chancellor of Exchequer), एक राज्य सचिव तथा उनके द्वारा नियुक्त किए चार प्रिवी काउंसिल (Privy Council) के सदस्य होते थे। तीन डाइरेक्टरों की एक गुप्त समिति द्वारा बोर्ड के सभी मुख्य आदेश भारत को भेजे जाते थे। स्वामियों के अधिकरण को यह अधिकार नहीं रहा कि डाइरेक्टरों का जो आदेश नियंत्रण बोर्ड द्वारा स्वीकार कर लिया हो, उसे रद्, निलम्बित अथवा समाप्त कर सके।

भारत में प्रशासन गवर्नर–जनरल तथा उसकी चार के स्थान पर तीन सदस्यों वाली परिषद के हाथ में दे दिया गया। गवर्नर–जनरल को अभी भी बहुमत के आदेश पर कार्य करना होता था परन्तु अब सदस्य तीन होने के कारण यदि एक भी परिषद उसकी ओर होता

तो वह अपना निर्णायक मत (casting vote) का प्रयोग करके अपनी बात मनवा सकता था। इसी अधिनियम के अनुसार बम्बई तथा मद्रास प्रेसिडेंसियां भी गवर्नर–जनरल और उसके परिषद के अधीन कर दी गई। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चय किया गया कि भविश्य में केवल संश्रावित सेवक (covenanted servants) ही गवर्नर–जनरल की परिषद के सदस्य नियुक्त किये जाएंगे। बाहर के लोगों को इन पदों पर नियुक्त करने का प्रयास सफल नहीं हुआ।

इस अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण धारा यह थी कि इसके द्वारा भारत में आक्रमक युद्धों को केवल समाप्त ही नहीं कर दिया अपितु जो प्रत्याभूति (guarantee) की संधियां कर्नाटक तथा अवध जैसे भारतीय राजाओं से की गई थीं उन्हें भी समाप्त कर दिया गया और कहा गया कि ''विजय की योजनाएं तथा भारत में साम्राज्य का विस्तार इस राष्ट्र की इच्छा, सम्मान तथा नीति के विरुद्ध है।'' परन्तु जैसा कि हम देखते हैं, इस आदेश का अनुसरण विपरीत दिशा में अधिक किया गया। वास्तव में यह अधिनियत बहुत ही दक्ष उपाय था। जिसमें राजनैतिक समझौते के सभी लक्षण थे।

3.4 1793 का चार्टर एक्ट

इस एक्ट द्वारा कंपनी के व्यापारिक अधिकारों को और 20 वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। अपनी परिषद के निर्णयों को रद्द करने की जो शक्ति लार्ड कार्नवालिस को दी गई थी वह आने वाले गवर्नर–जनरल तथा गवर्नरों को भी दे दी गई। गवर्नर–जनरल बंगाल का बम्बई तथा मद्रास की प्रसिडेंसियों पर अधिकार स्पष्ट कर दिया गया। यदि गवर्नर–जनरल से बाहर जाता था तो उसे अपनी परिषद के असैनिक सदस्यों में से किसी एक को उपप्रधान नियुक्त करना होता था ताकि वह उसके स्थान पर कार्य कर सके। जब वह मद्रास अथवा बम्बई जाता था उसे स्थानीय प्रशासन में स्थानीय गवर्नर को प्रत्यादिष्ट (override) करने का अधिकार दिया गया। मुख्य सेनापति को गवर्नर–जनरल की परिषद का स्वतः ही (ipofacto) सदस्य होने का अधिकार नहीं था। गृह सरकार के नियंत्रण में बोर्ड एक आयुक्त इसका अध्यक्ष बना दिया गया। इसके दो कनिष्ठ सदस्य अब सम्राट की प्रिवी काउंसिल के सदस्य होने अवश्यक नहीं थे। इन सभी सदस्यों को भारतीय कोष से वेतन मिलता था। यह परम्परा 1919 तक चलती रही।

3.5 सारांश

आपने इस इकाई में पढ़ा है कि ईस्ट इंडिया कंपनी की संवैधानिक विकास के लिए ब्रिटिश संसद ने कुछ एक्ट पारित किये थे, जिसमें से रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773 पहला एक्ट था। ईस्ट इंडिया कंपनी की बिगड़ती हुई वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए ब्रिटिश संसद द्वारा पारित रेग्यूलेटिंग एक्ट, कंपनी के भारतीय प्रशासन पर ब्रिटिश संसदीय नियंत्रण रख सकें। रेग्यूलेटिंग एक्ट पारित करने का मुख्य उद्देश्य कंपनी के कार्यों को भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों स्थानों पर नियंत्रण करना और उसके दोषों को दूर करना था।

3.6 बोध प्रश्न

1) रेग्यूलेटिंग एक्ट के प्रावधान एवं महत्व की विवेचना कीजिए।

2) पिट्स इंडिया एक्ट द्वारा कंपनी प्रशासन के परिवर्तनों का वर्णन कीजिए।

इकाई–4

1813 ई0, 1833 ई0 एवं 1853 ई0 का चार्टर एक्ट तथा अवध का विलय–पृश्ठभूमि एवं परिणाम

इकाई की रूपरेखा :

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 1813 का चार्टर एक्ट

4.3 1833 का चार्टर एक्ट

4.3.1 अधिनियम की धाराएँ

4.3.2 परिणाम

4.4. 1853 का चार्टर एक्ट

4.4.1 एक्ट की धाराएँ

4.4.2 परिणाम

4.5 अवध का विलय

4.6. सारांश

4.7 बोध प्रश्न

4.8 सहायक ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उध्ययन करने के बाद आप जान सकेगें कि:

- 1813 का चार्टर एक्ट द्वारा कंपनी का भारतीय व्यापार का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया;
- 1833 का चार्टर एक्ट द्वारा भारत संविधान में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जाएँ किस प्रकार अवध को कंपनी राज्य में मिलाया गया।

4.1 प्रस्तावना

ईस्ट इंडिया कंपनी का भारतीय साम्राज्य इतना बड़ा हो गया था कि कंपनी के लिए यह सम्भव नहीं था कि व्यापारिक तथा राजनैतिक अधिकारी के रूप में कार्य कर सकें। दूसरे समकालीन यथेच्छाचारिता (Laissez faire) के सिद्धान्त तथा नेपोलियन द्वारा चलाई गई महाद्वीपीय पद्धति द्वारा अंग्रेजों के लिए यूरोपीय व्यापार बन्द होने के कारण, सब लोगों की इच्छा थी कि कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया जाए। देश में औद्योगिक

क्रांति के कारण उत्पादन बहुत बढ़ गया था। इस इकाई के माध्यम से हम 1813 और 1833 के चार्टर एक्टों के बीच इंग्लैण्ड में हुए परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे।

4.2 1813 का चार्टर एक्ट

1813 के चार्टर एक्ट द्वारा कंपनी का भारतीय व्यापार का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया यद्यपि उसके चीन के व्यापार का तथा चाय के व्यापार का एकाधिकार चलता रहा। कंपनी की भागीदारों की बहुत हानि नहीं थी, क्योंकि अब उन्हें भारतीय राजस्व से 10. 5 प्रतिशत लाभांश मिलने लगा था। कंपनी को और अगले 20 वर्ष के लिए भारतीय प्रदेशों तथा राजस्व पर नियन्त्रण का अधिकार दे दिया गया, यह स्पष्ट कर दिया गया कि इससे इस प्रदेश का काऊन के प्रभुत्व पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह स्मरण रहे कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की संवैधानिक स्थिति पहली बार स्पष्ट की गई थी। व्यापारिक लेनदेन तथा राजस्व खाते भिन्न–भिन्न रखने होते थे। 1813 के अधिनियम से नियन्त्रण बोर्ड की अधीक्षण तथा निर्देशन की शक्ति को न केवल परिभाषित अथवा स्पष्ट किया गया, अपितु उसका पर्याप्त रुप से विस्तार किया गया। एक बात जिसके 1813 के अधिनियम को बहुत महत्वपूर्ण बना दिया, वह यह थी कि एक लाख रुपया वार्षिक विद्वान भारतीयों के प्रोत्साहन तथा साहित्य के सुधार तथा पुनरुत्थान के लिए तथा भारतीय प्रदेशों में विज्ञान की उन्नति तथा आरम्भ करने के लिए पृथक रख दिया गया। इस धारा के अनुसार सरकार ने जनता में विद्या प्रसार का बीड़ा उठाया। अतएव यह भारत सम्बन्धी अंग्रेजी घोषणाओं में विशेष महत्व रखता है।

4.3 1833 का चार्टर एक्ट

1813 और 1833 के चार्टर एक्टों के बीच इंग्लैण्ड में बहुत से परिवर्तन हुए। देश में औद्योगिक क्रांति के कारण उत्पादन बहुत बढ़ गया था। सस्ती वस्तुओं के कारण देश का अपना जीवन–स्तर ऊँचा हुआ तथा अब देश से वस्तुओं के निर्यात के कारण अनन्त धन देश में आना आरम्भ हो गया जिससे लोगों ने एक नई स्वतन्त्रता का अनुभव किया। अब वर्ग–चेतना ने अंग्रेजी राजनीति को नई दिशा दी। देश में नए बुद्धिजीवी वर्ग ने मजदूरों के अधिकारों के लिए आन्दोलन करना आरंभ कर दिया और नई जाग्रति समकालीन साहित्यकारों ने अपने लेखों द्वारा जनता तक पहुंचाई।

1830 में whig दल शक्ति में आया और उसने उदारवादी नीतियों के द्वार खोल दिए। फ्रांसिसी क्रांति का सीधा प्रभाव था कि ''मानव के अधिकारों'' का स्पष्ट प्रचार होने लगा। बहुत झगड़े के पश्चात 1832 का ''संसद सुधार एक्ट'' पारित किया गया। मानव की प्रतिष्ठा और गरिमा को मान्यता दी जाने लगी और यथेच्छाचारिता (Laissez & faire) के सिद्धान्त को अधिक स्वीकृति दी जाने लगी। समस्त वातावरण में सुधार विद्यमान थे।

ऐसे सुधारों के समय में संसद को 1813 में कंपनी के आज्ञापत्र (charter) के नवीनीकरण का प्रश्न आया। संसद में बहुत से सदस्य ये चाहते थे कि कंपनी को समाप्त कर दिया जाए और क्राउन को भारत का प्रशासन अपने हाथ में ले लेना चाहिए, परन्तु संसद का बहुमत इसके पक्ष में नहीं था और वह लॉड मैकॉले के इस विचार से सहमत था कि

कंपनी का प्रशासन चलते रहना चाहिए यद्यपि उसके आधार में परिवर्तन होना चाहिए। मैकॉले उन दिनों नियन्त्रण बोर्ड का सचिव था और जेम्स मिल जो एक ख्याति प्राप्त इतिहासकार तथा बेन्थम का शिश्य था, उन दिनों इंडिया हाउस (India House) के एक ऊँचे पद पर विराजमान था। इन दोनों व्यक्तियों का प्रभाव 1833 के चार्टर एक्ट में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

4.3.1 अधिनियम की धाराएँ

1) इस अधिनियम ने कंपनी को आगामी 20 वर्ष के लिए जीवन दान दिया उसे महामहिम सम्राट तथा उसके उत्तराधिकारी की ओर से भारत को प्रन्यास (trust) के रुप में अपने नियंत्रण में रखने तथा प्रशासन करने की अनुमति दे दी गई। कंपनी के व्यापारिक अधिकार समाप्त कर दिए गए और उसे भविश्य में केवल राजनीतिक कार्य ही करने थे।

2) इस अधिनियम द्वारा भारत के प्रशासन का केन्द्रीकरण कर दिया गया। बंगाल का गवर्नर भारत का गवर्नर–जनरल बना दिया गया और सपरिषद गवर्नर–जनरल (Governor General in Council) को कंपनी के सैनिक तथा असैनिक कार्य का नियंत्रण, निरीक्षण तथा निदेशन सौंप दिया गया। बम्बई, मद्रास तथा अन्य प्रदेश गवर्नर–जनरल के नियंत्रण में दे दिए गए। सभी कर सपरिषद गवर्नर–जनरल की आज्ञा से ही लगाए जाने थे और उसे ही इसके व्यय का अधिकार दिया गया। संक्षेप में, प्रशासन तथा वित्त की सभी शक्ति सपरिषद गवर्नर–जनरल के हाथ में दे दी गई।

3) कानून बनाने की शक्ति का भी केन्द्रीकरण कर दिया गया। अब गवर्नर–जनरल और उसे उसकी कार्यकारिणी को भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार दिया गया और मद्रास तथा बम्बई की परिषदों की कानून बनाने की शक्ति समाप्त कर दी गई।

4) इस अधिनियम द्वारा विधान बनाने के लिए गवर्नर–जनरल की कार्यकारिणी में एक अतिरिक्त कानूनी सदस्य को चौथे सदस्य के रुप में सम्मिलित किया गया। उसे केवल परिषदों की बैठकों में भाग लेने का अधिकार था, परन्तु मत देने का अधिकार नहीं था। भारतीय कानून को संचित व संहिताबद्ध करने तथा सुधारने की भावना से एक विधि आयोग की नियुक्ति की गई।

5) इस अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण धारा 87 थी। जिसमें कहा गया कि ''किसी भी भारतीय अथवा क्राउन देशज प्रजा को अपने धर्म, जन्मस्थान, वंशानुक्रम, वर्ग अथवा इसमें से किसी एक कारणवश कंपनी के अधीन किसी स्थान, पद अथवा सेवा के अयोग्य नहीं माना जा सकेगा।''

6) 1833 का चार्टर एक्ट के अधीन भारत सरकार को दासों की अवस्था सुधारने और अंततः दासता समाप्त करने की आज्ञा दी गई।

4.3.2 परिणाम

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 1833 के अधिनियम से भारत के संविधान में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। कंपनी के भारतीय चाय तथा चीन व्यापार का एकाधिकार

(monopoly) भी समाप्त का दिया गया अर्थात 1813 में आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्ण कर दिया गया। अब कंपनी को केवल प्रशासन पर अपने ब्यान को केन्द्रित करना था। कानूनों को संहिताबद्ध करना एक बड़ी समस्या थी। जैसा कि कहा गया है कि ''1833 से पहले यह कहना बहुत कठिन था कि कानून क्या है'', क्योंकि देश में बहुत से भिन्न–भिन्न कानून लागू हैं थे। अतएव विशेष मामले में कौन–सा कानून लागू है, यह कहना बहुत कठिन था। गवर्नर–जनरल को विधि आयुक्तों की नियुक्ति की अनुमति दी गई ताकि भारत में लागू भिन्न–भिन्न कानूनों को अध्ययन, एकत्रित तथा संहिताबद्ध किया जा सके।

4.4 1853 का चार्टर एक्ट

ज्यों–ज्यों चार्टर के नवीनीकरण का समय समीप आ रहा था संसद में यह मांग बढ़ती जा रही थी कि कंपनी की इंग्लैण्ड में दोहरी व्यवस्था समाप्त कर दी जाए। डाइरेक्टरों के बोर्ड तथा नियंत्रण बोर्ड के कारण अनावश्यक देरी होती थी और व्यय भी बढ़ता था। यह माँग भारत में प्रेसिडेन्सियों में भी एक आवेदन–पत्र में आ चुकी थी और सुझाव यह था कि एक राज्य सचिव (Secretary of State) तथा एक परिषद ही भारतीय काम–काज की देखभाल करे। यह भी अनुभव किया गया कि 1833 के चार्टर एक्ट में कानून बनाने के लिए स्थापित की गई व्यवस्था भी पर्याप्त नहीं थी। यह भी मांग थी कि गवर्नर–जनरल को बंगाल का गवर्नर नहीं बना रहना चाहिए, क्योंकि ऐसी अवस्था में वह प्रायः बंगाल का ही पक्ष लेगा। यह भी मांग थी कि शक्तियों का विकेन्द्रीकरण किया जाए और भारतीय लोगों को अपने मामलों के प्रबन्ध में भाग देना चाहिए। इंग्लैण्ड में इस विचार से कुछ लोग सहमत थे। उदाहरण के रुप में अप्रैल 1852 में लार्ड डरबी (Lord Derby) ने संसद में इस तथ्य पर बहुत बल दिया कि ''यह हमारा मानवता, परोपकार, नैतिकता तथा धर्म के नाम पर आवश्यक कर्तव्य है कि सुरक्षा, बुद्धिमता तथा विवेक को ध्यान में रखते हुए जितना शीघ्र हो सके भारतवासियों को अपने आंतरिक मामलों को निरीक्षण का अधिकारिक कार्यभार शनैः शनैः दे दिया जाना चाहिए।'' ऐसे वातावरण में अंग्रेजी संसद को 1853 में चार्टर के नवीनीकरण के प्रश्न पर विचार–विमर्श करना पड़ा। संसद ने दो समितियां कंपनी के मामलों की जांच करने के लिए नियुक्त कीं और उनकी रिपोर्ट के आधार पर ही 1853 चार्टर एक्ट बनाया गया तथा पारित किया गया।

4.4.1 एक्ट की धाराएं

इस एक्ट के अनुसार कंपनी को भारतीय प्रदेशों को ''महामहिम साम्राज्ञी तथा उसके उत्तराधिकारियों'' की ओर से प्रन्यास (trust) के रुप में किसी निश्चित समय के लिए नहीं अपितु 'जब तक संसद न चाहे' उस समय तक के लिए अपने अधीन रखने की अनुमति दे दी गई कि नियंत्रण बोर्ड, उसके सचिव तथा अन्य पदाधिकारियों का वेतन अंग्रेजी सरकार नियत करेगी, परन्तु धन कंपनी देगी। डाइरेक्टरों की संख्या 24 से घटकर 18 कर दी गई और उनमें से 6 क्राउन द्वारा मनोनीत किए जाने थे। नियुक्ति के मामलों में डाइरेक्टरों का संरक्षण समाप्त हो गया, क्योंकि नियुक्तियां अब एक प्रतियोगी परीक्षा (Competitive examination) द्वारा की जाने लगी। जिसमें किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं रखा गया। 1854 में एक समीति, मैकॉले जिसके अध्यक्ष थे, नियुक्त की गई ताकि इस योजना को

लागू कर सके।

भारत में कार्यकारी तथा विधान सम्बन्धी कार्यों के पृथकीकरण की भावना से विधान कार्यों के लिए अन्य सदस्यों का प्रबन्ध किया गया। विधि सदस्य को गवर्नर–जनरल की कार्यकारी परिषद का पूर्ण सदस्य बना दिया गया और जब यह सदस्य कानून बनाने के लिए बैठे तो इसमें 6 अतिरिक्त सदस्य–उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा एक छोटा न्यायाधीश तथा बंगाल, मद्रास, बम्बई तथा उत्तर पश्चिम प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) का एक–एक प्रतिनिधि होना चाहिए। ये प्रान्तीय प्रतिनिधि असैनिक पदाधिकारी हो, जिनकी कंपनी की न्यूनतम सेवा दस वर्ष की हो।

4.4.2 परिणाम

यह अधिनियम दो विरोधी विचारधाराओं के बीच एक समझौता था। जो लोग कंपनी को जारी रखना चाहते थे इस बात से सन्तुष्ट थे कि कंपनी जब तक कि संसद ऐसा न चाहे, कार्य करती रहेगी। जो लोग कंपनी की समाप्ति चाहते थे उन्हें इस बात से सन्तोष था कि डाईरेक्टरों की संख्या 24 से घटा कर 18 रह गई जिनमें से 6 क्राउन द्वारा मनोनीत किए जाते थे। गणपूर्ति (quroum) 10 की थी अर्थात यदि कुछ डाइरेक्टर न आएं तो क्राउन के प्रतिनिधि अपनी बात मनवा सकें। डाइरेक्टरों का संरक्षण भी समाप्त हो गया।

समस्त अधिनियम की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि भारतीयों को अपने विषय में कानून बनाने की भी अनुमति नहीं दी गई। जैसा कि सर बार्टल फ्रेयर (Sir Bartle Frere) ने कहा कि ''यह करोड़ों लोगों के लिए कानून बनाने का प्रयोग था जिसमें उन्हें केवल विद्रोह के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था कि वे कह सकें कि यह कानून हमारे अनुकूल है अथवा प्रतिकूल।''

4.5 अवध का विलय

डल्हौजी अन्तःकारण से अवध को हड़पना चाहता था, किन्तु प्रगट में वह ऐसा प्रदर्शित करना नहीं चाहता था। अतः सर्वप्रथम यह निर्णय लिया गया कि 1801 ई0 की संधि को भंग कर दिया जाय। इस संधि में नवाब ने उचित ढग से शासन करने का आश्वासन दिया था। परन्तु विगत 50 वर्षों में इस शर्त का पालन नहीं किया जा रहा था। अतः इस संधि को भंग कर वाजिदअली शाह के साथ एक नयी संधि करने का निश्चय किया गया। नयी संधि के अनुसार अवध के नवाब की मांग की गयी कि वह प्रशासन का सारा कार्य कंपनी को सौंप दे। उसे केवल औपचारिक अधिकार दिये गये। वास्तव में डलहौजी यह दिखाना चाहता था कि वह अवध को हड़पना नहीं चाहता केवल वहाँ का प्रशासन कार्य अंग्रेजों के अधीन लाना चाहता है ताकि लोगों को स्वच्छ प्रशासन मिल सके और यह कंपनी का दायित्व भी है।

वाजिदअली शाह को नयी संधि पसंद नहीं आई। क्योंकि वह नाममात्र का नवाब नहीं बने रहना चाहता था। फिर भी, उसने निष्क्रिय विरोध के अलावा कोई कदम नहीं उठाया और डलहौजी से मिलने कलकत्ता चला गया। शायद गवर्नर–जनरल को दया आये। परन्तु डलहौजी ने एक घोषणा जारी करके अवध के राज्य को कंपनी राज्य में शामिल कर लिया। डलहौजी का मुख्य तर्क यह था कि सर्वोपरिसत्ता की हैसियत से कंपनी अवध में व्याप्त

कुशासन को एक मूकदर्शक की भाँति सहन नहीं कर सकी। इस प्रकार अवध के राज्य का विलय हो गया।

4.6 सारांश

आपने इस इकाई में पढ़ा है कि ईस्ट इंडिया कंपनी का भारतीय साम्राज्य बड़ा होने के कारण 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा कंपनी का भारतीय व्यापार का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। साथ ही 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा भारत के प्रशासन का केन्द्रीकरण कर दिया गया और कंपनी के व्यापारिक अधिकार समाप्त कर दिए गए, उसे भविश्य में केवल राजनीतिक कार्य करने का अधिकार दिए गए। इस इकाई में आपने यह भी पढ़ा है कि अवध राज्य का कुशासन के आरोप में विलय हो गया।

4.7 बोध प्रश्न

1) 1833 के चार्टर एक्ट की धाराएँ एवं उसके परिणामों का वर्णन कीजिए।

2) अवध का विलय का वर्णन कीजिए।

इकाई–5

1857 की क्रान्ति की दीर्घकालीन एवं तात्कालिक पृश्ठभूमि

इकाई की रुपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 विद्रोह के कारण

5.2.1 राजनीतिक कारण

5.2.2 प्रशासनिक एवं आर्थिक कारण

5.2.3 सामजिक एवं धार्मिक कारण

5.2.4 सैनिक कारण

5.2.5 तात्कालिक कारण

5.3 विद्रोह का आरम्भ और विस्तार

5.4 विद्रोह का दमन

5.5 विद्रोह के असफलता के कारण

5.6 विद्रोह का प्रभाव

5.7 सारांश

5.8 बोध प्रश्न

5.9 सहायक ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के बाद आप जान सकेगें कि :

- 1857 की क्रांति के प्रमुख कारण क्या थें ;
- इस विद्रोह का दमन कैसे हुआ ;
- इसके असफलता के क्या कारण थे : और
- इसका क्या प्रभाव पड़ा।

5.1 प्रस्तावना

19 वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास की सबसे प्रमुख घटना 1857 ई0 विद्रोह या क्रांति है। इसके दूरगामी परिणाम निकले। यह क्रांति कंपनी सरकार की नीतियों के विरूद्ध जनता के दिलों में संचित असंतोष एवं विदेशी सत्ता के प्रति घृणा का परिणाम था। अंग्रेज़ी

साम्राज्यवादी विचारधारा से प्रभावित इतिहासकारों ने इस विद्रोह को 'सामंती असंतोष की अभिव्यक्ति' मात्र कहा है परन्तु वास्तव में प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में अंग्रेजों की नीतियों ने अस्त–व्यवस्तता एवं असंतोष की भावना ला दी; उनकी ही अभिव्यक्ति सामंत, सेना और जनता के माध्यम से 1857 ई0 की क्रांन्ति में हुई।

5.2 विद्रोह के कारण

ऐंग्लो–इण्डियन इतिहासकारों ने सैनिक असन्तोषों तथा चर्बी वाले कारतूसों को ही 1857 ई0 के महान विद्रोह का सबसे मुख्य तथा महत्वपूर्ण कारण बताया है। परन्तु आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चर्बी वाले कारतूस ही इस विद्रोह का एकमात्र कारण अथवा सबसे प्रमुख कारण नहीं था। विद्रोह के कारण अधिक गूढ़ थे और वे सब जून 1757 के प्लासी के युद्ध से 29 मार्च, 1857 को मंगल पाण्डे द्वारा अंग्रेज़ एजुटेंट की हत्या तक के अंग्रेजी प्रशासन के 100 वर्ष के इतिहास में निहित हैं। चर्बी वाले कारतूस और सैनिकों का विद्रोह तो केवल एक चिंगारी थी जिसने उन समस्त विस्फोटक पदार्थों को जो राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक कारणों से एकत्रित हुए थे।

5.2.1 राजनीतिक कारण

1757–1857 के मध्य कंपनी सरकार ने बल, छल–प्रपंच के द्वारा भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना की थी। इस प्रयास में अनेक राजवंशों एवं राजघरानों का सफाया हो गया। जो राज्य बचे भी रहें, उनके आंतरिक एवं वाह् मामलों पर नियंत्रण कायम कर वहाँ के शासकों को कठपुतली मात्र बना दिया गया था। कंपनी जिसे और जब चाहती गद्दी पर बिठा देती या हटा देती। इस नीति ने वेलेस्ली के समय में एक निश्चित नीति धारण कर ली जब देशी राज्यों पर जबर्दस्ती 'सहायक संधि' थोप दी गई। सहायक संधि वास्तव में देशी नरेशों के शोषण एवं उनकी स्वतंत्रता के अपहरण के उद्देश्य से कार्यान्वित की गई थी। यद्यपि देशी राजाओं ने विवशता एवं अनिच्छापूर्वक इस संधि को स्वीकार किया, तथापि इससे उनके दिलों में असंतोष की अग्नि धीरे–धीरे प्रज्वलित होने लगी।

डलहौजी ने 'गोद–निषेध नीति' के आधार पर सतारा, नागपुर, झाँसी, संभलपुर, जैतपुर, उदयपुर आदि राज्यों को जबर्दस्ती ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। इसी प्रकार कुशासन के आधार पर बरार तथा अवध को भी अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। अवध के विलय समस्त भारत एवं अवध में असंतोष व्याप्त कर दिया। इसका प्रभाव सेना पर भी पड़ा, क्योंकि कंपनी की सेना में अवध के सैनिक बहुत अधिक संख्या में थे।

डलहौजी की अन्य नीतियाँ भी घातक सिद्ध हुईं। उसने पदों एवं पेंशनों को समाप्त कर एक बड़े भारतीय वर्ग को असंतुष्ट कर दिया। कर्नाटक एवं तंजौर के नवाब एवं राजा के पद समाप्त कर दिए गए। इसी प्रकार अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब की पेंशन बंद कर दी गई। इसलिए नाना साहब अंग्रेजों का कट्टर दुश्मन बन गया और विद्रोह में उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुगल बादशाह के साथ हुए दुर्व्यवहार ने तो हिंदू–मुस्लिम जनता को भी क्रोधित कर दिया। डलहौजी ने भी उसके पद को भी समाप्त करने की योजना बनाई और 1849 ई0 में यह घोषणा कर दी कि बहादुरशाह के पश्चात

उसके उत्तराधिकारी को लाल किला छोड़कर कुतुब के पास रहना होगा। लार्ड कैनिंग तो और भी आगे बढ़ गया। उसने 1856 ई0 में यह घोषणा कर दी कि बहादुरशाह की मृत्यु के बाद मुगल 'बादशाह' की उपाधि धारण नहीं कर सकेंगे। स्पष्टतः यह मुगल वंश के शासन को समाप्त करने की घोषणा थी। इस घोषणा ने जनमानस में अकुलाहट की भावना भरकर उन्हें विद्रोह करने को उत्प्रेरित किया।

5.2.2 प्रशासनिक एवं आर्थिक कारण

कंपनी सरकार की प्रशासनिक नीति भी असंतोष का कारण बनी। कंपनी सरकार की न्याय–व्यवस्था अत्यंत ही दोषपूर्ण थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत धन और समय का अपव्यय होता था। इसी प्रकार लगान–व्यवस्था भी असंतोषजनक एवं कष्टप्रद थी। कृषकों पर कर का अत्यधिक भार था। प्रायः प्रत्येक भू–राजस्व–प्रणाली, चाहे वह स्थाई बंदोबस्त हो, रैयतवाड़ी या महालवाड़ी व्यवस्था हो, सबका एकमात्र उद्देश्य एवं परिणाम कृषकों पर लगान का बोझ बढ़ाना ही था।

कंपनी सरकारी नौकरी देने में भी भेदभाव की नीति बरतती थी। ऊँची और अच्छी तनख्वाह वाली नौकरियाँ सिर्फ अंग्रेजों के लिए सुरक्षित थी। मध्यम एवं उच्च वर्ग वाले भारतीयों को ऐसी नौकरियों से अलग रखा गया था। जो भारतीय सरकारी सेवा में थे भी, उनके साथ घृणापूर्ण एवं अपमानजनक व्यवहार किया जाता था। इससे भारतीयों में आक्रोश एवं असंतोष था।

5.2.3 सामाजिक एवं धार्मिक कारण

अनेक सामाजिक कारणों से भी भारतीयों में असंतोष फैल रहा था। अंग्रेज अधिकारी भारतीयों के प्रति तिरस्कारपूर्ण दृष्टिकोण रखते थे एवं उनसे अपमानजनक व्यवहार करते थे। वे अंग्रेज जाति की उच्चता में विश्वास रखते थे एवं 'कालों' को घृणा देखते थे। 1857 ई0 के विद्रोह में धार्मिक कारणों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत में ईसाई मिशनरियों के कार्यों ने असंतोष को बढ़ाने में योगदान दिया। पादरीवर्ग एवं मिशनरी स्कूलों में शिक्षित वर्ग दोनों भारतीय धर्म की खुली अलोचना करते थे। मिशन भारतीयों को लोभ देकर अपना धर्म परिवर्तन करने को भी प्रेरित कर रहे थे। ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों को सरकारी नौकरियाँ दी जाती थीं। इतना ही नहीं, बेंटिक ने एक कानून बनाकर ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों को पैतृक संपत्ति में भी हिस्सा दिलवा दिया। यह हिन्दू धर्म एवं कानून पर खुला प्रहार था। अंग्रेजी मिशन हिन्दू धर्म के बदले ईसाई धर्म की शिक्षा को बढ़ावा देते थे। मिशनरी स्कूलों में बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य थी जहाँ विद्यार्थियों को हिन्दू धर्म के बदले ईसाई धर्म की सर्वोच्चता का पाठ पढ़ाया जा रहा था। इससे भारतीयों के मन में यह बैठ गया कि अंग्रेज उनके धर्म को भी नष्ट करना चाहते हैं। अपने धर्म पर आक्रमण होते हुए वे नहीं देख सकते थे।

5.2.4 सैनिक कारण

इन सारे असंतोषों के बावजूद अगर सैनिकों का सहयोग भारतीयों को नहीं मिलता तो संभवतः क्रांति नहीं होती। भाग्यवश सैनिक वर्ग भी अंग्रेजों से असंतुष्ट था। इस असंतोष

के अनेक कारण थे। बंगाल सेना में बहुत बड़ी संख्या अवध के सैनिकों की थी। ये सैनिक अपने नवाब के अपमान और राज्य के छीने जाने से क्रुद्ध थे। सैनिक अन्य कारणों से भी क्रोधित थे। भारतीय सेना के उच्च पद सिर्फ अंग्रेजों के लिए ही सुरक्षित थे। सेना में इन्हें निम्न पद ही मिलते थे, वह भी अंग्रेज अफसरों को प्रसन्न किए बिना नहीं। देशी सैनिकों को अंग्रेजों की अपेक्षा वेतन भी कम मिलता था। ''पूरी भारतीय सेना में अंग्रेजी सैनिकों की संख्या 1/6 भाग से भी कम थी, लेकिन सैनिक खर्चे का आधे से अधिक अंग्रेजों पर ही किया जाता था। मामूली से कार्यों पर भारतीय सैनिकों को ही लगाया जाता था और लूट के समय अधिकांश माल अंग्रेजों में ही बाँटा जाता था। ऐसी अवस्था में भारतीय सेना में असंतोष फैलना स्वाभाविक था।

5.2.5 तत्कालिक कारण

कंपनी सरकार ने पुरानी ब्राउन बैस बंदूक की जगह 1857 ई से नई एनफील्ड राइफल का प्रयोग आरंम्भ किया। इस राइफल में जो कारतूस भरे जाते थे, उसे दांत से काटना पड़ता था। बंगाल सेना में यह अफवाह फैल गई कि इस कारतूस में गाय और सूअर की चर्बी मिली हुई है। इससे हिन्दु–मुसलमान सैनिकों में भयंकर रोष उत्पन्न हो गया। उनके मन में यह बात बैठ गई कि सरकार उनका धर्म भ्रष्ट करने पर तुली हुई है। अतः सेना अपनी धर्म रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गई।

5.3 विद्रोह का आरंभ और विस्तार

सैनिकों के चर्बी वाले कारतूसों के प्रयोग करना स्वीकार न करने पर उन पर अनुशासनहीनता का अपराध लगाकर उन्हें दण्ड दिया गया। 29 मार्च, 1857 को बैरकपुर के सैनिक मंगल पाण्डे ने अपने दो अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी। मंगल पाण्डे को गिरफ्तार कर बाद में फाँसी की सजा दी गई एवं सेना की उस टुकड़ी को भंग कर दिया गया। इस टुकड़ी में अधिकांश सिपाही अवध के थे। उन लोगों ने वहाँ जाकर इस घटना का प्रचार किया। लखनऊ में 7वीं अवध रेजीमेंट के सिपाही ने भी इन कारतूसों का प्रयोग बंद कर दिया। अवध के कमिश्नर हेनरी लॉरेंस ने इसे भंग कर दिया। इस बीच विद्रोह के संकेतस्वरुप उत्तरी भारत में चपातियाँ तथा कमल के फूल एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी गईं ये क्रांति की अग्रदूत थीं।

10 मई, 1857 की संध्या को सैनिकों ने खुली बगावत कर दी। विद्रोह का केंद्र मेरठ बना। वहाँ पहले ही सैनिकों ने चर्बी लगे कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया था। फलतः, 85 सैनिकों को गिरफ्तार कर लिया गया। क्रुद्ध होकर 10 मई को सैनिकों ने जेल तोड़कर अपने बंदी साथियों को छुड़ा लिया एवं अंग्रेज अधिकारियों पर हमला कर अनेकों की जान ले ली। मेरठ की विद्रोही सेना 11 मई को दिल्ली पहुंची। इसने मुगल बादशाह बहादुरशाह 'ज़फर' को भारत का सम्राट एवं अपना सेनापति घोषित कर दिया। दिल्ली से आरम्भ होकर शीघ्र ही यह विद्रोह अन्य नगरों में फैल गया। अवध का सम्पूर्ण इलाका क्रांति के ध्वनि से गूंज रहा था। झांसी, नागपुर तथा बिहार में भी यह विद्रोह फैल गया। लगभग समस्त उत्तरी एवं मध्य भारत में यह विद्रोह उग्ररुप से व्याप्त हो गया। विद्रोहियों ने अंग्रेजों के खजाने को लूट लिया, शस्त्रागारों पर अधिकार किया एवं बंदी साथियों को मुक्त करा

लिया। कुछ भागों में व्रिदोह ने एक खुले और स्पष्ट युद्ध का रुप लिया जिसमें लाखों और हजारों सैनिकों ने भाग लिया। कुछ भागों में विभिन्न स्थानों में सशस्त्र विद्रोह हुए और कुछ भागों में नागरिक उपद्रव भर हुए। पर, भारत का कोई ऐसा भाग नहीं था जिसमें शासकों की नींद हराम न हुई हो और जहाँ विद्रोह का कोई भय न रहा हो। 15 जून, 1857 तक क्रांति पूरे उत्तरी भारत में फैल चुकी थी एवं कंपनी की सत्ता अनेक जगहों से समाप्त हो गई थी।

5.4 विद्रोह का दमन

अंग्रेजों ने सबसे पहले दिल्ली को पुनः अपने कब्जे में करने की योजना बनाई। पंजाब से सहायता के लिए सेना बुलाई गई। सर हेनरी बर्नार्ड एवं ब्रिगेडियर विल्सन की मिली–जुली सेना ने दिल्ली को घेर लिया। विद्रोहियों एवं अंग्रेज सैनिकों में अनेक झपटें हुई। धीरे–धीरे दिल्ली के अंदर विद्रोहियों की शक्ति कमजोर पड़ रही थी। सितंबर, 1857 में निकोल्सन ने कश्मीरी दरवाजे पर अधिकार कर नगर में प्रवेश किया एवं दिल्ली पर अधिकार कर लिया। बहादुरशाह ने भाग कर हुमायुँ के मकबरे में शरण ली। लेफ्टिनेंट हडसन ने वहाँ उसका पीछा कर गिरफ्तार कर लिया। बहादुरशाह के पुत्रों एवं पौत्र की हत्या कर दी गई। बादशाह और उसकी बेगम को गुप्त से लाल किला ले जाया गया। बाद में बहादुरशाह को अपदस्थ रंगून भेजा गया। वही उनकी मृत्यू हो गई।

अवध क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था। क्रांति की शुरूआत होते ही हेनरी लॉरेंस ने अंग्रेजी सेना को रेजीडेंसी में सुरक्षित कर लिया था, परन्तु रेजीडेंसी के बाहर रहने वाले अंग्रेजों को विद्रोहियों ने मौत के घाट उतार दिया। इसकी खबर पाकर हैवलॉक सेना लेकर लखनऊ पहुँचा। क्रांतिकारियों के सामने उसकी एक न चली। वह चारों तरफ से घिर गया। लखनऊ के बाद शाहजहाँपुर एवं बरेली भी अंग्रेजों के कब्जें में आ गया। बेगम हजरत महल को भागकर नेपाल की तराई में शरण लेनी पड़ी।

मध्य भारत में क्रांति के प्रमुख संचालक नाना साहब, ताँत्या टोपे और झाँसी की रानी थीं। अंग्रेजों ने इसका सफाया कर दिया। अंग्रेजों ने झाँसी पर अधिकार कर रानी को भागने पर मजबूर कर दिया। वहाँ से कालपी गई, लेकिन वहाँ भी वह नहीं टिक सकी। तात्या टोपे के साथ वह ग्वलियर पहुँची जहाँ पर युद्ध–क्षेत्र में उसे वीरगति प्राप्त हुई। ताँत्या टोपे भागकर नागपुर चला गया। वहाँ से वह बड़ौदा, उदयपुर होता हुआ अलवर पहुँचा। एक देशद्रोही ने उसे गिरफ्तार करवा दिया। बाद में उसे फाँसी की सजा दे दी गई। बिहार में विद्रोही नेता कुँवर सिंह ने अंग्रेजों का डटकर मुकाबला किया। आरा एवं निकटवर्ती क्षेत्रों पर कब्जा कर कुँवर सिंह अगस्त, 1857 में विद्रोहियों की सहायता के लिये अवध जा पहुँचें। कुँवर सिंह ने आजमगढ़ पर अधिकार कर लिया। आजमगढ़ पर अंग्रेजों का दबाव बढ़ने पर वह वापस जगदीशपुर की तरफ मुड़े। बलिया के पास गंगा पार करते समय उनकी एक बाँह में गोली लग गई जिसे उन्होंने काटकर गंगा नदी को समर्पित कर दिया। 2 अप्रैल, 1858 को उन्होंने जगदीशपुर में उनका देहांत हो गया।

5.5 विद्रोह के असफलता के कारण

1) विद्रोह की असफलता का सबसे प्रधान कारण योग्य नेतृत्व का अभाव था। विद्रोह

नेता एकजुट एवं सगंठित होकर विद्रोहियों का नेतृत्व नहीं कर सकें। विद्रोह में भाग लेने वाले अपने–अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु ही इसमे शामिल हुऐ थे। किसी निश्चित योजना के आधार पर वे साथ मिलकर काम नहीं कर सके। उनमें बहादुरी एवं वीरता की भावना तो थी, परन्तु योग्य सेनापति के गुण नहीं थे। यह बात दिल्ली, कानपुर, झाँसी, ग्वालियर इत्यादि स्थानों पर हुए सैनिक अभियानों से स्पष्ट हो जाती है।

2) विद्रोह के स्थानीय एवं सीमित स्वरूप ने भी इसकी असफलता में योगदान दिया। यह क्रान्ति उत्तरी एवं मध्य भारत के कुछ हिस्सों तक ही सीमित रही। क्रान्ति की ज्वाला दिल्ली, मेरठ, कानपुर, लखनऊ, झाँसी, ग्वालियर, बिहार आदि स्थानों पर ही प्रज्वलित हुई। देश के एक बहुत बड़े भाग बंगाल, पंजाब, कश्मीर, उड़ीसा, दक्षिण भारत तक क्रान्ति नहीं फैल पाई। अतः अंग्रेजों ने सीमित क्षेत्र में होने वाले इस विद्रोह को कुचल दिया। यदि यह विद्रोह समूचे भारत में विस्तृत होता तो इसे दबाना इतना आसान नहीं होता।

3) कंपनी की तुलना में विद्रोहियों के साधन अत्यंत सीमित थे। इनके पास धन, जन एवं शस्त्रों का अभाव था। विद्रोह में जितने भी राजाओं और जमीदारों ने भाग लिया था, वे छोटे सामांत से थे जिनकी शक्ति और साधन सीमित थे। इनके विपरित कंपनी की स्वयं की विशाल सेना थी। उसके पास धन की भी कमी थी। कंपनी की सहायता सेना और धन से भारत के प्रमुख शक्तिशाली नरेश कर रहे थे। अंग्रेजों ने रेल, तार एवं डाक तथा सामुद्रिक मार्ग का भी लाभ उठाकर अवश्यकता अनुसार सेना एक जगह से दूसरी जगह विद्रोहियों के दमन के लिए भेजी।

4) 1857 ई0 का विद्रोह बिना किसी पूर्वनिश्चित योजना के ही आरम्भ हो गया। यद्यपि, क्रांति के कुछ प्रमुख नेता घूम–घूमकर जनमानस को उद्वेलित कर रहे थे एवं 21 मई, 1857 को विद्रोह का दिन निश्चित किया गया था, तथापि उनका कोई ठोस संगठन नहीं था। फलस्वरुप, क्रांति अकस्मात मार्च से ही शुरु हो गई। विद्रोह के दौरान भी विद्रोहियों की कोई निश्चित एवं क्रमबद्ध योजना या केन्द्रीय संगठन नहीं था। इसके अभाव में विद्रोही लंबे समय तक अंग्रेजों का सामना नहीं कर सके।

5) क्रांति की विफलता का एक प्रमुख कारण जनसहयोग का अभाव था। भारतीय समाज का उच्च एवं मध्यम शिक्षित वर्ग तथा धनी तबके के लोग इससे अलग रहे। व्यापारी एवं बनिए भी विद्रोहियों के खिलाफ थे। कृषकों की बहुसंख्या ने भी विद्रोहियों का साथ नहीं दिया। बहुत से सामांत अपनी जमींदारों पर अधिकार करने के पश्चात क्रांति से अलग हो गये। इस तरह विद्रोहियों को जनसमर्थन प्राप्त नहीं हो सका। बिना जनसमर्थन के किसी भी क्रांति या विद्रोह सफल होना कठिन है।

5.6 विद्रोह का प्रभाव

यद्यपि, 1857 ई0 का विद्रोह असफल रहा तथापि इसके तात्कालिक और दूरगामी परिणाम निकले। इससे भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों का शासन समाप्त हो गया एवं ब्रिटिश संसद और ताज का शासन आरंभ हुआ। विद्रोह एक युग की समाप्ति एवं नए

युग के आगमन का द्योतक था। इससे भारतीय राजनीति, प्रशासन, सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था एवं राष्ट्रीय भावना को गहरे रुप से प्रभावित किया। 1857 ई0 के विद्रोह की विफलता ने भारतीयों को दिखा दिया कि सिर्फ सेना और शक्ति के बल पर ही अंग्रेजों से मुक्ति नहीं मिल सकती थी, बल्कि इसके लिए सभी वर्गों का सहयोग और समर्थन और राष्ट्रीय भावना आवश्यक थी।

5.7 सारांश

आपने इस ईकाई में पढ़ा कि 1857 ई0 की क्रांति 19वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास की सबसे प्रमुख घटना है। 1857 ई0 के विद्रोह में अनेक राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सैनिक कारणों ने सहयोग दिया। यद्यपि, 1857 ई0 का विद्रोह विफल हो गया, तथापि इसके तात्कालिक और दूरगामी परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। इस क्रांति से भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों का शासन समाप्त हो गया एवं ब्रिटिश संसद और ताज का शासन आरम्भ हुआ।

5.8 बोध प्रश्न

1) 1857 ई0 के विद्रोह कारणों की समीक्षा कीजिए।

2) 1857 ई0 की क्रांति के असफल होने के कारण बताइये। इसके क्या परिणाम हुए ?

3) ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1857 ई0 के विद्रोह का दमन किस प्रकार किया ? व्याख्या करें।